ॐ

भद्रबाहुचरित्र

वारि हंस इव क्षीरं सारं गृह्णाति सज्जनः ।
यथाश्रुतं यथारुच्यं शोच्यानां हि कृतिर्मता ॥
(श्रीवादीभसिंह)

अनुवादक—
श्री उदयलाल जैन
काशलीवाल

प्रकाशक
मैनेजर, जैन भारती भवन
बनारस सिटी

न्योछावर ॥=)

Printed by Gauri Shankar Lal, at G. L. Press, Benares.
PUBLISHED BY BADRI PRASAD JAIN, BENARES.

भद्रबाहुचरित्र

वारि हंस इव क्षीरं सारं गृह्णाति सज्जनः ।
यथाश्रुतं यथारुच्यं शोच्यानां हि कृतिर्मता ॥
(श्रीवादीभसिंह)

बड़नगर निवासी
श्री उदयलाल काशलीवालके द्वारा
अनुवादित

प्रकाशक
मैनेजर, जैन भारती भवन
बनारस सिटी

प्रथम संस्करण १००० | श्री वीर-निर्वाण सं. २४३७ | शुल्क

रजिष्टर्ड

बड़नगर निवासी श्री पं. उदयलाल जैन ने इस ग्रन्थ को संस्कृत से हिन्दी भाषा में अनुवादित करके श्री जैन भारती भवन बनारस को इस के छापने का सब हक समर्पित किया उसी अनुसार प्रकाशक ने ऐक्ट २५ सन् १८६७ के अनुसार रजिस्टरी करा के सब हक स्वाधीन रक्खा है—अब कोई इस ग्रन्थ की नकल करके पढ़ेगा अथवा छपावेगा तो राजकीय नियमानुसार फल को प्राप्त होवेगा अलम् ।

सूचना.

जिस पुस्तक पर हमारी मुहर न होगी वह चोरी की समझी जायगी. इस वास्ते खरीदारों को चाहिये कि लेते समय हमारे कार्यालय की मुहर छपा लेवें ।

प्रस्तावना।

पाठक महाशय!

जिस ग्रन्थकी प्रस्तावना लिखनेका हम आरंभ करते हैं वह वास्तवमें बहुत महत्त्वका है। ग्रन्थकर्त्ताने इस ग्रन्थका संकलन कर जैन जातिका बड़ा भारी उपकार किया है। इस ग्रन्थके निर्माताका नाम है रत्ननन्दी। आपके विषयमें बहुत कुछ लिखनेकी हमारी उत्कण्ठा थी परन्तु जैन समाज ऐतिहासिक विषयोंकी खोज करनेमें संसारमें सबसे पीछा पछड़ा हुआ है और यही कारण है कि आज कोई किसी जैनाचार्यकी जीवनी लिखना चाहे तो पहले तो उसे सामग्री ही नहीं मिलेगी। यदि विशेष परिश्रमसे कुछ भाग कहीं पर मिल भी गया तो वह उतना थोड़ा रहता है जिससे पाठकोंकी इच्छा पूरी नहीं होसकती। इसका कारण यदि हम यह कहें कि "जैनियोंमें शिक्षाका प्रचार बहुत कम होगया है और इसीसे कोई किसी विषयकी खोजमें नहीं लगता है" तो कोई अनुचित नहीं होगा। क्योंकि ऐतिहासीय बातोंका शिक्षासे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। आज संसारमें बुद्धका नाम इतना प्रसिद्ध है कि बच्चा २ उन्हें जानने लगा है। परन्तु जैन धर्म इतने महत्त्वका होकर भी उसे बहुत कम लोग जानते हैं। इसका कारण क्या है? और कुछ लोग जानते भी हैं तो उनमें कितने ऐसे हैं जो जैनमतको स्वतंत्र मत न समझ कर बौद्धादिकी शाखा विशेष समझते हैं। इसे हम जैनियोंकी भूल छोड़कर दूसरोंकी गल्ती नहीं कह सकते। क्योंकि—जिस प्रकार बौद्धोंका इतिहास प्रसिद्ध होनेसे उन्हें सब जानने लग गये यदि उसी प्रकार जैनियोंका इतिहास आज यदि संसारमें प्रचलित होता तो क्या यह संभवथा कि जैनी लोग योहीं संसारके किसी कोनेमें पड़े २ सड़ा करते? हम इस अन्ध श्रद्धा पर विश्वास नहीं कर सकते। क्या आज जैनियोंमें विद्वान, महात्मा तथा परोपकारी पुरुषों-की किसी तरह कमी है जो उनके प्रसिद्ध होनेमें कोई प्रतिबन्ध हो? नहीं।

हां यदि कमी है तो उन प्राचीन महर्षियोंके वास्तविक ऐतिहासिक वृत्तान्त की। यदि जैन समाज इस बात पर लक्ष देगा और इस विषयकी खोजमें जी जानसे लगेगा तो कोई आश्चर्य नहीं कि वह फिर भी अपने पूर्वजोंका उज्वल सुयशस्तम्भ संसारके एक छोरसे लेकर दूसरे छोरतक गाढ़ दे। और एकवक्त सारे संसारमें जैनधर्मका वास्तविक महत्व प्रगट कर दे।

क्योंकि—

उपाये सत्युपयेस्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धता।
पातालस्थं जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यतः॥

प्राप्त होनेवाली वस्तुके लिये उपाय किया जाय तो उसमें कोई प्रतिरोधक नहीं हो सकता। क्योंकि-यंत्रके द्वारा तो पातालसे भी जल निकाल लिया जाता है।

हमारे ग्रन्थकारका भी इतिहास गाढान्धकारमें पड़ा हुआ है और न हमारे पास सामग्रीही है जो उसे अन्धकारसे निकाल कर उजालेमें ला सकें। अस्तु, ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें कुछ अपना परिचय दिया है उसीपर कुछ श्रम करके देखते हैं कि हम कहां तक सफल मनोरथ होंगे?

वादीभेन्द्रमदप्रमर्दनहरेः शीलामृताम्भोनिधेः
शिष्यं श्रीमदनन्तकीर्त्तिगणिनः सत्कीर्त्तिकान्ताजुषः।
स्मृत्वा श्रीललितादिकीर्त्तिमुनिपं शिक्षागुरुं सद्गुणं
चक्रे चारु चरित्रमेतदनघं रत्नादिनन्दी मुनिः॥

भाव यह है कि—परवादीरूप गजराजके मदका नाश करने वाले, शीलामृतके समुद्र और उज्वल कीर्त्ति—कान्तासे विराजित श्रीअनन्तकीर्त्ति महाराजके शिष्य और अपने विद्या गुरु श्रीललितकीर्त्ति मुनिराजका हृदयमें स्मरण कर रत्ननन्दी मुनिने यह निर्दोष चरित्र बनाया है। यही ग्रन्थकारके इतिहासकी नींव है। अथवा यों कहिये कि-पहली सीढ़ी है। पाठक स्वयं विचारें कि-यह नींव कहां तक काम आ सकेगी? खैर! इस श्लोकसे यह तो मालूम होगया कि—रत्ननन्दी

ललितकीर्ति मुनिके शिष्य हैं। और ललितकीर्त्ति श्रीअनन्तकीर्ति आचार्यके शिष्य हैं। इन महानुभावोंका संसारमें कब अवतार हुआ है यह निश्चय करना तो जरा कठिन है। परन्तु भद्रबाहु चरित्रमें श्रीरत्नन्दीने एक जगह लिखा है कि—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते शृणुतापरम् ॥
लुङ्कामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे ॥
अणहिल्लपत्तने रम्ये प्राग्वाटकुलजोऽभवत्।
लुङ्काभिधो महामानी श्वेतांशुकमताश्रयी ॥
दुष्टात्मा दुष्टभावेन कुपितः पापमण्डितः।
तीव्रमिथ्यात्वपाकेन लुङ्कामतमकल्पयत् ॥

अर्थात्—महाराज विक्रमकी मृत्युके बाद १५२७ वर्ष बीत जाने पर गुजरात देशके अणहिल नगरमें कुलुम्बी वंशीय एक महामानी लुंका नामक श्वेताम्बरी हुआ है। उसी दुष्टने तीव्र मिथ्यात्वके उदसे लुंकामत (ढुंढियामत) का प्रादुर्भाव किया। यह मत प्रतिमाओं को नहीं मानता है।

ग्रन्थकारके इस लेखसे यह सिद्ध होता है कि—विक्रम सं० १५२७ के बाद वे हुये हैं। क्योंकि तभी तो उन्होंने अपने ग्रन्थमें ढूंढियोंका उल्लेख किया है। परन्तु यह खुलासा नहीं होता कि उनके अवतारका निश्चित समय क्या है ? सुदर्शन चरित्रके रचयिता एक जगह रत्नकीर्तिका उल्लेख करते हैं—

मूलसङ्घाग्रणीर्नित्यं रत्नकीर्तिगुरुर्महान्।
रत्नत्रयपवित्रात्मा पायान्मां चरणाश्रितम् ॥

यद्यपि भद्रबाहु चरित्रके रचयिताने अपना नाम रत्ननन्दी लिखा है परन्तु आश्चर्य नहीं कि उन्हें उनसे पीछेके मुनियोंने रत्नकीर्ति नामसे भी लिखे हों। क्योंकि रत्ननन्दी और रत्नकीर्तिके समयमें विशेष

अन्तर नहीं दीखता। इससे भी यही प्रतीत होता है कि रत्ननन्दीको ही सुदर्शन—चरित्रके रचयिता विद्यानन्दीने रत्नकीर्त्ति लिखा है। ये विद्यानन्दी भट्टारक हैं। इनके गुरु का नाम है देवेन्द्रकीर्त्ति जैसा कि सुदर्शन चरित्रके इस लेखसे जाना जाता है—

जीवाजीवादितत्वानां समुद्योतदिवाकरम्।
वन्दे देवेन्द्रकीर्त्तिं च सूरिवर्यं दयानिधिम्॥
मद्गुरुर्योविशेषेण दीक्षालक्ष्मीप्रसादकृत्।
तमहं भक्तितो वन्दे विद्यानन्दी सुसेवकः॥

भावार्थ—जीवाऽजीवादि तत्वोंके प्रकाश करनेमें सूर्यकी उपमा धारण करने वाले और दयासागर श्रीदेवेन्द्रकीर्त्ति आचार्यके लिये मैं अभिवन्दन करता हूं। जो विशेषतया मेरे गुरु हैं। इन्होंके द्वारा मुझे दीक्षा मिली है।

देवेन्द्रकीर्त्ति भट्टारक विक्रम सम्वत १६६२ में सागानेरके पट्टपर नियोजित हुये थे। इनके बनाये हुये बहुत से कथाकोषादि ग्रन्थ हैं। इससे यह सिद्ध तो ठीक तरह होगया कि सुदर्शन—चरित्रके कर्त्ता विद्यानन्दी भी विक्रम सं० १६६२ के अनुमानमें हुये हैं। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि रत्नकीर्त्ति और रत्ननन्दी एकही होने चाहिये। क्योंकि भद्रबाहुचरित्र दोनोंके बनाये हुये लिखे हैं। परन्तु रत्ननन्दीके भद्रबाहु-चरित्रको छोड़ कर रत्नकीर्त्तिका भद्रबाहुचरित्र अभी तक देखनेमें नहीं आता और न इन दोनोंके समयमें विशेष फर्क है। भद्रबाहुचरित्रके अनुसार रत्ननन्दीका समय वि. १५२७ के ऊपर जचता है और विद्यानन्दीके सुदर्शनचरित्रके अनुसार रत्नकीर्त्तिका समय भी १६६२ के भीतर होना चाहिये। वैसे अन्तर है १३५ वर्षका परन्तु विचार करनेसे इतना अन्तर नहीं रहता है। भद्रबाहुचरित्रमें जो रत्ननन्दीने ढूंढियोंके मतका प्रादुर्भाव वि. १५२७ में हुआ लिखा है इससे रत्ननन्दी-का ढूंढियोंसे पीछे होना तो सहज सिद्ध है। परन्तु वह कितना पीछे यह ठीक निश्चय नहीं किया जासकता। यदि अनुमानसे यह कहें कि उस समय ढूंढियोंको पैदा हुये सौ सवासौ वर्ष होजाने चाहियें तो वि.

१६२५ के आस पास उनका होना जाना जाता है यह बात भद्रबाहुचरित्रमें ढूंढियोंकी उत्पत्तिसे जानी जाती है ।

दूसरे भद्रबाहु-चरित्रके बनानेवाले रत्ननन्दी तथा रत्नकीर्त्ति के एक होनेमें यह भी एक प्रमाण मिलता है कि जहां परिच्छेद पूरा होता है वहां-रत्ननन्दी तथा रत्नकीर्त्ति इन दोनोंका नाम पाया जाता है । इस लिये यही निश्चित होता है कि भद्रबाहु-चरित्रके बनाने वाले दोनों महानुभाव एकही हैं । वैसे रत्नकीर्त्ति और भी हुये हैं । पाठक यदि इस विषयमें परिचित हों तो अनुग्रह करैं पुनरावृत्तिमें ठीक-कर दिया जावेगा ।

रत्ननन्दी किस कुलमें तथा किस देशमें हुये हैं यह ठीकर नहीं जाना जा सकता । जिससे कि हम उनके विषयमें कुछ और विशेष लिख सकें । और न हमारे पास विशेष साधन ही है ।

रत्ननन्दीने भद्रबाहुचरित्रमें एक जगहँ यह लिखा है कि—

श्वेतांशुकमतोद्भूतमूढान् ज्ञापयितुं जनान् ।
व्यरीरचमिमं ग्रन्थं न स्वपाण्डित्यगर्वतः ॥

इससे यह जाना जाता है कि उनके भद्रबाहुचरित्रके लिखनेका असली अभिप्राय श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति तथा उसकी जिन शासनसे बहिर्भूतता बताना था । हम भी कुछ प्रकर्णानुसार श्वेताम्बर मतके बाबत विचार करेंगे—पाठक जरा पक्षपात रहित तात्त्विक दृष्टिसे दोनों मतकी तुलना करैं कि प्राचीन मत कौन है ? और कौन उपादेय तथा जीवोंके सुखका साधन है ?

श्वेताम्बर और दिगम्बरोंमें जो मत भेद है वह तो रहै । सबसे पहले हम अपने लेखमें यह बात सिद्ध करेंगे कि दोनोंमें प्राचीन मत कोन है ? और किसका पीछेसे प्रादुर्भाव हुआ है ? इस विषयका पर्यालोचन करनेसे दोनों मत वाले दोनोंकी उत्पत्ति अपने २ से कहते हैं । इसलिये हम सबसे पहले दोनोंकी ओरसे एक २ की उत्पत्तिका उपक्रम दोनों सम्प्रदायके ग्रन्थोंके अनुसार लिखे देते है—

श्वेताम्बर लोग कहते हैं कि—

दिगम्बरस्तावत्—श्रीवीरनिर्वाणाभवोत्तरषड्शतवर्षातिक्रमे शिवभूत्यपरनाम्नः सहस्रमल्लतः सञ्जातः—

यथा—छव्वाससयाइं नवुत्तराइं तईयासिद्धिं गयस्स वीरस्स ।

सो बोडिआण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा ॥ (प्रवचनपरीक्षा)

भावार्थ—श्रीवीरनाथके मुक्ति जानेके ६३९ वर्ष बाद रथवीर पुरमें शिवभूति (सहस्रमल्ल) से दिगम्बरोंकी उत्पत्ति हुई है । इसका हेतु यों कहा जाता है—

"रहवीरेत्याद्यार्यात्रयाणामयमर्थः—

तात्पर्य यह है कि-रथवीर पुरमें एक शिवभूति रहता था। उसकी स्त्री अपनी सासुके साथ लड़ा करती थी । उसका कहना था कि—तुम्हारा पुत्र रात्रिके समय बाहर २ बजे सोनेके लिये आता है सो मैं कब तक जगा करूं । शिवभूतिकी माताने इसके उत्तरमें कहा कि—आज तूं सोजा और मैं जागती हूं । बाद यही हुआ भी । शिवभूति सदाके अनुसार आज भी उसी समय घर आये और कवांड़ खोलनेके लिये कहा तो भीतरसे उत्तर मिला कि—इस समय जहां दरवाजा खुला हो वहीं पर चले जाओ * । शिवभूति माता की भर्त्सनासे चल दिये । घूमते हुये उन्हें एक साधुओंका उपाश्रय खुला हुआ दीख पड़ा । शिवभूतिने भीतर जाकर साधुओंसे प्रवृजाकी अभ्यर्थना की । परन्तु साधुओंको उनकी अभ्यर्थना स्वीकृत नहीं हुई * । तब निरुपाय होकर वे स्वयं प्रवृजित हो गये । फिर साधुओंकी भी कृपा होगई सो उन्होंने शिवभूतिको अपने शामिल कर लिया । बाद साधुलोग वहांसे विहार करगये ।

---

* क्यों पाठकों ! आपने भी यह बात कभी सुनी है कि-जरासे स्त्रीके कहनेमें आकर माता अपने हृदयके टुकड़ेको अपनेसे जुदा कर सकती है ? जिसके विषयमें यहां तक कहावत प्रसिद्ध है कि "पुत्र चाहे कुपुत्र भले ही होजाय परन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती" तो यह कल्पना कहां तक ठीक है ! बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये ।

* शिवभूतिको उस समय दीक्षा क्यों नहीं दी गई ? और जब इन्कार ही था तो फिर क्यों देदी गई ? कुछ विशेष हेतु होना चाहिये ।

कुछ कालके बाद फिर भी उसी नगरमें उन सब साधुओंका आना हो गया। उस समय वहांके राजाने शिवभूतिको एक रत्नकम्बल दिया। उसे देखकर साधुओंने शिवभूतिसे यह कह कर कि—साधुओंको रत्नकम्बल लेना उचित नहीं है छीन लिया। और उसके टुकड़े २ करके रजो हरणादिके काममें लाने लगे। साधुओंके ऐसे बर्तावसे शिवभूतिको बहुत दुःख पहुंचा।

किसी समय उस संघके आचार्य जिनकल्प साधुओंका स्वरूप कह रहे थे तब शिवभूतिने यह जाननेकी इच्छाकी कि—जब जिनकल्प निष्परिग्रह होता है तो आपलोगोंने यह आडम्बर किस लिय स्वीकार किया? वास्तविक मार्ग क्यों नहीं अङ्गीकार करते हैं? इसके उत्तरमें गुरु महाराजने कहा कि—इस विषम कलिकालमें जिनकल्प कठिन होनेसे धारण नहीं किया जा सकता। जम्बूस्वामीके मोक्ष जाने बाद जिनकल्प नाम शेष रह गया है। शिवभूतिने सुनकर उत्तरमें कहा कि—देखिये तो मैं इसे ही धारण करके बताता हूं। इसके बाद गुरुने भी उसे बहुत समझाया परन्तु शिवभूतिने एक न सुनी और जिनकल्प धारण करही तो लिया।" यही श्वेतांबरियोंके शास्त्रोंमें दिगम्बरियोंकी उत्पत्तिका हेतु है। इसकी समीक्षा तो हम आगे चलकर करेंगे अब जरा दिगम्बरोंका भी कथन सुन लीजिये—

वामदेव (जो वि. की दशमी शताब्दिमें हुये हैं) उन्होंने भावसंग्रहमें लिखा है कि—

भाव यह है—विक्रमराजाकी मृत्युके १३६ वर्ष बाद जिनचन्द्रके द्वारा श्वेताम्बर मतका संसारमें समाविर्भाव हुआ। कारण यह है कि उज्जयिनीमें श्रीभद्रबाहु मुनिराजका संघ आया। भद्रबाहु मुनि अष्टाङ्ग निमित्त (ज्योतिषशास्त्र) के बड़े भारी विद्वान थे। निमित्त ज्ञानसे जानकर उन्होंने सब मुनियोंसे कहा कि—देखो! यहां बारह वर्षका घोर दुर्भिक्ष पड़ेगा। सब साधु लोग उनके वचनो पर दृढ़ विश्वासकर अपने २ गणके साथ दूसरे देश की ओर चले गये। क्योंकि श्रुतज्ञानीके वचन कभी अलीक नहीं हो सकते। वैसा हुआ भी। सो एक दिन शान्त्याचार्य विहार करते हुये वल्लभीपुरीमें चले आये और वहीं पर रहने लगे।

उज्जयिनीमें भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। वह यहां तक कि भिक्षुक लोग एकका एक उदर फाड़कर भीतरका अन्न निकाल२कर खाने लगे। उससमय साधु लोग वास्तविक मार्गको नहीं रख सके। परन्तु किसी तरह अपना पेट तो भरनाही पड़ता था। इसलिये धीरे २ शिथिल होकर वस्त्र, दंड, भिक्षा-पात्र, कम्बलादि धारण कर लिये। इसी तरह जब कितना काल बीता और सुभिक्ष हुआ तब शान्त्याचार्यने अपने सब संघको बुलाकर कहा कि—अब इस बुरे मार्गको छोड़ो और वास्तविक सुमार्ग अङ्गीकार करो। उस समय जिनचन्द्र शिष्यने कहा कि—हम यह वस्त्रादि रहित मार्ग कभी नहीं स्वीकार कर सकते। और न इस सुखमार्गका परित्याग ही कर सकते हैं। इसलिये आपका इसीमें भला है कि—आप चुपसाध जावैं। शान्त्याचार्यने फिर भी समझाया कि तुम भले ही इस कुमार्गको धारण करो परन्तु यह मोक्षका साधन नहीं होसकता हां उदर भरनेका बेशक साधन है। शान्त्याचार्यके वचनोंसे जिनचन्द्रको बड़ा क्रोध आया और उसी अवस्थामें उसने अपने गुरुके शिरको दण्डों २ से खूब अच्छी तरह खबर ली—जिससे उसी समय शान्त्याचार्य शान्त परिणामोंसे मर कर व्यन्तर देव हुये। और अपने प्रधान शिष्य जिनचन्द्रको शिक्षा देने लगे। उससे वह डरा सो उनकी शान्तिके लिये उसने आठ अङ्गुल चौड़ी तथा लम्बी एक काठकी पट्टी बनाई और उसमें शान्त्याचार्यका संकल्प कर पूजने लगा सो वह उसी रूपमें आज भी लोकमें जलादिसे पूजा जाता है। अब तो वही पर्युपासन नाम कुलदेव कहलाने लगा। बाद श्वेत वस्त्र धारण कर उसकी पूजन की गई तभीसे लोकमें श्वेताम्बर मत प्रख्यात हुआ। *

---

* हमारे पाठकोंको यह सन्देह होगा कि—भद्रबाहुचरित्रमें तो स्थूलाचार्य मारे गये लिखे हैं और भावसंग्रहमें शान्त्याचार्य सो यह फर्क क्यों?

मालूम होता है कि—शान्त्याचार्यही का अपर नाम स्थूलाचार्य है। क्योंकि—यह बात तो दोनों ग्रन्थकारने मानी है कि—श्वेताम्बर मतका संचालक जिनचन्द्र हुआ है और उन्होंने दोनोंका उसे शिष्य भी बताया है। दूसरे दर्शनसारमें भी शान्त्याचार्यके शिष्य जिनचन्द्रके द्वाराही श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति बतलाई गई है और यह ग्रन्थ प्राचीन भी अधिक है। इसलिये हमारी समझमें तो स्थूलाचार्यका ही दूसरा नाम जिनचन्द्र था। ऐसाही जचता है और न ऐसा होना असम्भव ही है।

यही दोनों मतोंके शास्त्रका सिद्धान्त है। इसमें किसका कहना सत्य है तथा कौन पुरातन है यह जरा पर्यालोचनसे आगे चल कर अवगत होगा। दिगम्बरियोंकी उत्पत्ति बाबत श्वेताम्बर लोगोंका कहना है कि ये लोग विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें हुये हैं। अस्तु, यदि थोड़ी देरके लिये यही श्रद्धान कर लिया जावे तौभी उसमें यह सन्देह कैसे निराकृत हो सकेगा? श्वेताम्बर भाइयोंके पास अपने ग्रन्थोंके लिखे हुये प्रमाणको छोड़कर और ऐसा कौन सुदृढ़ प्रमाण है जिससे सर्व साधारणमें यह विश्वास होजाय कि यथार्थमें दिगम्बर मतका समाविर्भाव विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें हुआ है? क्योंकि प्रतिवादीका संशय दूर करनेके लिये ऐसे प्रमाणकी बड़ी भारी जरूरत है। हमने दिगम्बर मतके खण्डनसे श्वेताम्बर सम्प्रदायके आधुनिक विद्वानोंकी बनाई हुई कितनी पुस्तकें देखीं परन्तु आजतक किसी विद्वानने प्रबल प्रमाणके द्वारा यह नहीं खुलासा किया—जैसा श्वेताम्बर शास्त्रोंमें दिगम्बरोंका उल्लेख किया गया है। इसलिये यातो इस विषयको सिद्ध करना चाहिये अन्यथा हरिभद्र सूरिके इन वचनोंका पालन करना चाहिये कि—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

केवल कथन मात्रसे निष्पक्षपाती होनेकी डींग मारनेको कोई बुद्धिमान भला नहीं कहता। जैसा कहना वैसा परिपालन भी करना चाहिये। उपदेश केवल दूसरोंके लिये ही नहीं होता किन्तु स्वतः भी उसपर लक्ष्य देना चाहिये।

हम यह बात तो आगे चलकर बतावेंगे कि पुराना मत कौन है? और कौन यथार्थ है? इस समय श्वेताम्बरियोंने जो दिगम्बरियोंकी बाबत कथा लिखी है उसीकी ठीक २ समीक्षा करते हैं—

श्वेताम्बरियोंने यह बात तो अपने आप स्वीकार की है कि शिवभूतिने जिस मतका आदर किया था वह जिनकल्प है। और उसे नाम इसी कारणसे ग्रहण किया था कि और साधुलोग जो जिनकल्प छोड़े हुये बैठे थे वह उचित नहीं था। सो उसका प्रचार हो। इससे

दिगम्बरियोंको तो बड़ा भारी लाभ हुआ जो अनायास उनका मत प्राचीन सिद्ध हो गया। अरे! जिनकल्प पहले था तभी तो शिवभूति गुरुके मुखसे उसका कथन सुनकर उसके धारण करनेमें निश्चल प्रविष्ट हुआ। इसमें उसने नवीन मत क्या चलाया? जो पुराना था, जिसे तुम लोग उच्छेद हुआ बताते हो वह नवीन तो नहीं है। नवीन उस हालतमें कहा जाता जब कि जिनकल्पको जैनशास्त्रोंमें आदर न मिलता। सो तो तुम भी निर्वाद स्वीकार कर चुके हो। उसमें उस समय तुम्हारा विरोध भी तो यही था न? जो कलियुगमें इसका व्युच्छेद होगया है इसलिये धारण नहीं किया जा सकता। और यही कहकर शिवभूतिको समझाया भी था। यदि तुमने उसे कलियुगके दोष मात्र से हेय समझकर उपेक्षा की तो हम तो यही कहेंगे कि तुम्हारी शक्ति इतनी न थी जो उसे धारण कर सको? अस्तु, परन्तु केवल तुम्हारे धारण न करनेसे मार्ग तो बुरा नहीं कहा जा सकता। भला ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो एक मिथ्यादृष्टिकी निन्दासे पवित्र जैनधर्मको बुरा समझने लगेगा।

कदाचित्कहोकि—शिवभूतिने जो मत धारण किया है वह जिनकल्प भी नहीं है किन्तु जिनकल्पका केवल नाम मात्र है। वास्तवमें उसे कोई ओर ही मत कहना चाहिये।

यह कहना भी ठीक नहीं है और न उस ग्रन्थ ही से यह अभिप्राय निकलता है। वहां तो खुलासा लिखा हुआ है कि—जिनकल्पका व्युच्छेद होजानेसे कलियुगमें वह धारण नहीं किया जा सकता। इस विषयको देखते हुये दिगम्बरियोंका श्वेताम्बरियोंके बाबत जो उल्लेख है वह बहुतही निराबाध तथा सत्य जचता है। बड़ी भारी बात तो यह है कि—जैसा दिगम्बरी लोग श्वेताम्बरियोंकी बाबत लिखते हैं उसी तरह वे भी स्वीकार करते हैं जरा देखिये तो—

> संयमो जिनकल्पस्य दुःसाध्योऽयं ततोऽधुना।
> व्रतं स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम्॥

तथा—

> दुर्द्धरो मूलमार्गोऽयं न धर्त्तुं शक्यते ततः।

कहिये जैसा दिगम्बरी लोग उनकी उत्पत्तिके बाबत वास्तविक मार्गका छोड़ना बताते हैं श्वेताम्बरी लोग भी तो वही बात कहते हैं कि–जिनकल्प वास्तवमें सत्य है। परन्तु कालकी करालतासे उसका व्युच्छेद होगया है। इसलिये वह अब बहुत ही कठिन है। सो उसे हम लोग धारण नहीं कर सकते। यही पाठ शिवभूतिसे भी कहा गया था न? तो अब पाठक ही विचारें कि कौन मत तो पुरातन है और किसका कहना वास्तवमें सत्पथका अनुशरण करता है? यह बात तो हमने श्वेताम्बरी लोगोंके ग्रन्थोंसे ही बताई है और इन्हींसे दिगम्बर मत पुरातन सिद्ध होता है। जब स्वयं अपने शास्त्रोंमें ही ऐसी कथा है जो स्वयं अपने को बाधित ठहराती है—फिर भी आग्रहसे दूसरोंको बुरा भला कहना भूल है। जरा हमारे श्वेताम्बरी भाई यह बात सिद्ध तो करें कि दिगम्बर मत आधुनिक है? वे ओर तो चाहे कुछ कहें परन्तु अपने ग्रन्थका किस रीतिसे समाधान करते हैं यही बात हमें देखना है।

दिगम्बर लोग श्वेताम्बारियोंकी बाबत कहते हैं कि यह मत विक्रम सम्बत १३६ में निकला। उसी तरह श्वेताम्बर दिगम्बरियोंके बाबत लिखते हैं कि–वि. सं. १३८ में दिगम्बर मत श्वेताम्बरसे निकला। दोनों मतोंकी कथा भी हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं। सार किसके कहनेमें है यह बात बुद्धिमान पाठक कथा पर ही से यद्यपि अच्छी तरह जान सकते हैं और इस हालतमें यदि हम और प्रमाणोंको दिगम्बरियोंकी प्राचीनता सिद्ध करनेमें न दें तो भी हमारा काम अटका नहीं रहेगा। क्योंकि जो बात खण्डन लिखनेवालोंकी लेखनी ही से ऐसी निकल जावे जिससे खण्डन तो दूर रहे और दूसरोंका मण्डन हो जाय तो उसे छोड़कर ऐसा कौन प्रबल प्रमाण हो सकता है जिससे कुछ उपयोग निकले? श्वेताम्बरी भाई यह न समझें कि इस लेखसे हम और प्रमाण देनेके लिये निर्बल हों। हम अपनी ओर से तो जहां तक हो सकेगा दिगम्बर धर्मके प्राचीन बतानेमें प्रयत्न करेंगे ही। परन्तु पहले पाठकोंको यह तो समझादें कि दिगम्बर धर्म श्वेताम्बरसे प्राचीन है। वह भी श्वेताम्बरके ग्रन्थोंसे! अस्तु, अब हम उन प्रमाणोंको भी उप-

शित करते हैं जिनसे जैनियोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। और उन्हींसे यह भी सिद्ध करेंगे कि दिगम्बर धर्म पहलेका है।

श्वेताम्बरोंके ग्रन्थोंमें यह लिखा हुआ मिलता है कि दिगम्बर धर्म विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें रथवीरपुरसे शिवमूर्तिके द्वारा निकला है। अस्तु, श्वेताम्बर भाइयोंका इस मूल पर चाहे जैसा अन्ध श्रद्धान हो! परन्तु इतिहासके जानने वाले यह बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे। प्राचीन इतिहासके देखने पर यह श्रद्धा नहीं होती कि–इस कथनका पाया कितना गहरा और सुदृढ़ होगा? हम अपने प्राचीनत्वके सिद्ध करनेके पहले यह बतला देना बहुत समुचित समझते हैं कि–दिगम्बर साधु लोग धन वस्त्र आदि कुछ भी परिग्रह अपने पास नहीं रखते है। अर्थात् थोड़े अक्षरोंमें यों कहिये कि वे दिशारूप वस्त्रके धारण करने वाले हैं इसीलिये उन्हें दिगम्बर (नग्न) साधु कहते हैं। जैसा कि–श्रीभगवत्समन्तभद्रने साधुओंका लक्षण अपने रत्नकरण्ड-उपासकाचारमें लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥

यह दिगम्बरियोंके साधुओंका लक्षण है। और श्वेताम्बरियोंके साधु लोग वस्त्र वगैरह रखते हैं। इसलिये वे श्वेताम्बर कहे जाते हैं। अथवा हम यह व्याख्या न भी करें तौभी उनके नाम मात्रसे यह ज्ञात हो जाता है कि वे श्वेत वस्त्रके धारण करने वाले हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि निर्ग्रन्थ साधुओंके उपासक दिगम्बर लोग हैं और श्वेत वस्त्र धारक साधुओंके उपासक श्वेताम्बरी लोग। अब विचार यह करना है कि–दिगम्बर मत जब प्राचीन बताया जाता है तो ऐसे कौन प्रमाण हैं जिनसे सर्व साधारण यह समझ जांय कि दिगम्बर मत वास्तवमें पुरातन है?

हम यह बात ऊपर ही सिद्धकर चुके हैं कि दिगम्बर लोग नग्न साधु तथा नग्न देवके उपासक हैं। तो अब देखिये कि–वराहमिहिर जो

ज्योतिषशास्त्रके अद्वितीय विद्वान हुये हैं * उनके समयका निश्चय करते हैं तो इस विषयमें यह प्रसिद्ध श्लोक मिलता है।

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

कहनेका आशय यह है कि—श्रीविक्रम महाराजकी सभामें धन्वन्तरि अमरसिंह कालिदास प्रभृति जो नव रत्न गिने जाते थे उनमें वराहमिहिर भी एक रत्न थे। इन्हींने अपने प्रतिष्ठाकाण्डमें एक जगह लिखा है कि—

विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मणां
मातृणामिति मातृमण्डलविदः शंभोः सभस्मा द्विजः।
शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदु-
र्ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम्॥

भाव यह है कि—वैष्णव लोग विष्णुकी प्रतिष्ठा करें, सूर्योपजीवी लोग सूर्यकी उपासना करें, विप्र लोग ब्राह्मणकी क्रिया करें, ब्रह्माणी इन्द्राणी प्रभृति सप्त मातृमण्डलकी उनके जानने वाले अर्चा करें, बौद्ध लोग बुद्धकी प्रतिष्ठा करें, नग्न (दिगम्बर साधु) लोग जिन भगवानकी पर्युपासना करें। थोड़े शब्दोंमें यों कहिये कि जो जिसदेवके उपासक हैं वे अपनी २ विधिसे उसीकी क्रिया करें।

अब इतिहासके जानने वाले लोग इस बातका अनुभव करें कि यह वराहमिहिरका कथन दिगम्बर मतका अस्तित्व महाराज विक्रमके

---

* हमने तो यहां तक किम्वदन्ती सुनी है कि वराहमिहिर और श्रीभद्रबाहु ये दोनों सहोदर थे। यह बात कहां तक ठीक है? सहसा विश्वास नहीं होता। क्योंकि-इस विषय में हमारे पास कोई ऐसा सबल प्रमाण नहीं है-जिससे इस किम्वदन्तीको प्रमाणित कर सके। यदि हमारे पाठक इस विषयमें कुछ जानते हों तो सूचित करें हम उनके बहुत आभारी होंगे।

समय तकका सिद्ध करता है या नहीं? यदि करता है तो जो श्वेताम्बरी लोग दिगम्बरी लोगोंकी उत्पत्ति विक्रमकी मृत्युके १३८ वर्ष बाद बतलाते हैं यह कहना सत्य है क्या? हमे खेद होता है कि श्वेताम्बराचार्योंने इस विषय पर क्यों न लक्ष दिया। वे अपने ही हरिभद्रसूरिके—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

इन वचनोंको क्यों भूल गये? अथवा यों कहिये कि—"अर्थी-दोषं न पश्यति,, जिन्हें अपने ही मतलबसे काम होता है वे दूसरे की ओर क्यों देखने वाले हैं? क्या वे लोग यह न जानते थे कि यह बात छिपी न रहेगी? हम कितनी भी क्यों न छिपावें परन्तु कभी न कभी तो उजलेमें आवेगी ही।

यह तो हम ऊपरही लिख आये हैं कि–वराहमिहिर विक्रमके समयमें विद्यमान थे। तो अब यह निश्चय हो गया कि दिगम्बरियोंके बाबत जो श्वेताम्बरियोंकी कल्पना है वह–सर्वथा मिथ्या है। उसका एक अंश भी ऐसा नहीं है जो श्रद्धेय हो। बल्कि दिगम्बरियोंने जो श्वेताम्बरियोंकी बाबत वि. सं. १३९ में उनकी उत्पत्ति लिखी है वह बिल्कुल ठीक है। इसके साक्षी वराहमिहिराचार्य हैं। (जिनका जैनियोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है) उनके समयमें श्वेताम्बरियोंकी गन्धतक नहीं थी इसीसे उन्होंने "नग्न" पद दिया है।

इस विषयमें कितने श्वेताम्बर लोगोंका कहना है—जो लोग जैन मतसे अपरिचित तथा ग्रामीण होते हैं वे जैन मन्दिर के देखते ही झटसे कह उठते हैं कि—यह नग्नदेवका मन्दिर है। उसी प्रसिद्धि के अनुसार यदि वराहमिहिरने भी ऐसा लिख दिया हो तो क्या आश्चर्य है? परन्तु कहने वालोंकी यह भूल है। वराहमिहिर विक्रमकी सभाके रत्न गिन जाते थे। वे सब शास्त्रोंके जानने वाले थे। इसलिये ऐसे अपरिचित तथा ग्रामीण न थे जो बे शिर पैड़की कल्पना उठा लेते। और यह तो कहो कि उस समय तुम्हारा मत जब विद्यमान था

तोभी उन्होंने तुम्हारे विषयमें न लिखकर दिगम्बरियोंके विषयमें क्यों लिखा ? तुम्हारे कथनानुसार तो दिगम्बर धर्मका उस समय सद्भाव भी न होना चाहिये ? फिर यह गोल माल क्यों हुआ ? इसका उत्तर क्या दे सकते हो ? तुम वराहमिहिरके इन वचनों को होते हुये यह कभी सिद्ध नहीं कर सकते कि दिगम्बर मत विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें निकला है। किन्तु इतिहास वेत्ताओंकी दृष्टिमें उल्टे तुम ही निरुत्तर कहे जा सकोगे।

कदाचित्कहो कि—केवल नग्न शब्दके कहने मात्रसे तो दिगम्बर लोगोंका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता ? क्योंकि हम भी तो जिन कल्पके उपासक हैं। और जिन कल्प वालोंकी प्रवृत्ति नग्न रूप होती है।

केवल कथन मात्रसे कहना कि—हम जिन कल्पके उपासक हैं और जिन कल्प नग्न होता है इससे कुछ उपयोग नहीं निकल सकता। साथ में स्वरूप भी वैसाही होना चाहिये। और यदि यही था तो शिवभूति क्यों बुरा समझा गया ? अरे! जब तुम्हारा मतही श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध है तो उसे नग्न कहना केवल उपहास कराना है। हमतो फिर भी कहेंगे कि-साधुलोग वास्तविक नग्न यदि संसारमें किसी मतके होते हैं तो वे केवल दिगम्बरियोंके। वस्त्रादि से सर्वाङ्ग वेष्टित साधुओंको कोई नग्न नहीं कहेगा ? यदि तुम अपना पक्ष सिद्धकरनेके लिये कहो भी तो यह बड़ा भारी आश्चर्य है ! दूसरे तुम्हारे ग्रन्थोंमें जब यह बात भी पाई जाती है कि "तीर्थंकर देव भी सर्वथा अचेल नहीं होते किन्तु देव दूष्य वस्त्र स्वीकार करते हैं" * तो तुम्हारे साधु नग्न हों यह कैसे माना जाय ? यह बात साधारणसे साधारण मनुष्यसे भी यदि पूछी जाय कि दिगम्बर और श्वेताम्बरियोंके साधुओंमें नग्न साधु कौन है ? तो वह भी दोनोंका स्वरूप देख कर झटसे कह देगा कि दिगम्बरियोंके साधु नग्न होते हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वराहमिहिरका वचन विक्रम महाराजके समयमें दिगम्बर धर्मका अस्तित्व सिद्ध

---

* इस विषयको श्रीआत्मारामजी साधुने अपने निर्माण किये हुये तत्वनिर्णयप्रासादके ५४४ वें पत्रमें स्वीकार किया है। पाठक उस पुस्तकसे देख सकते हैं।

करता है वह ससन्देह है। और श्वेताम्बरी लोग जो विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें चला बताते हैं वह बिल्कुल काल्पनिक है।

महाभारतके तीसरे परिच्छेदकी आदिमें दिगम्बरियोंकी बावत कुछ जिकर आया है। महाभारत वराहमिहिरसे भी बहुत प्राचीन है। इसके बनाने वाले श्रीवेदव्यास महर्षि हैं। जिनके नामको बच्चा २ जानता है। इनके विषयमें यदि विशेष शोध करना चाहो तो किसी सनातन धर्मके विद्वानसे जाकर पूछो वह सब बातें बता सकेगा। वे लिखते हैं कि—

* साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले
गृहीत्वा सोपस्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं
मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च ॥

आशय यह है कि—कोई उत्तङ्क नामा विद्यार्थी अपने गुरुकी भार्याके लिये कुण्डल लानेके लिये गया। मार्गमें पौष्यके साथ उसका वार्तालाप हुआ तो किसी हेतुसे उत्तङ्कने उसे चक्षु विहीन होनेका शाप दे दिया। पौष्य भी चुप न रह सका सो उसने बदलेका शाप दे डाला कि—तू भी संतानका सुख न देखेगा। अवसानमें यह कहता हुआ कि अच्छा शापका अभाव हो कुण्डल लेकर चल दिया। सो रास्तेमें उसने कुछ दीखते हुये कुछ न दीखते हुये नग्न (दिगम्बर) मुनिको बारं बार देखे।

कहो तो नग्न साधु दिगम्बरियोंके ही थे न? ये वेदव्यास तो आज कलके साधु नहीं हैं! किन्तु इन्हें हुये तो आज कई हजार वर्ष बीत चुके हैं। इस विषयमें तुम यह भी नहीं कह सकते कि क्या आश्चर्य है जो ये जिनकल्पी ही साधु हों? क्योंकि उस समय जिन-कल्प विद्यमान था। ब्राह्मणोंके ग्रन्थोंमें जहां कहीं नग्नशब्दसे सम्बन्ध रखने वाला विषय आता है वह केवल दिगम्बर धर्मसे सम्बन्ध रखता है। खैर! वेदव्यासतो प्राचीन हुये हैं उनके समयमें तो तुम्हारा

---

* मुनि आत्मारामजीने भी इस प्रमाणको तत्वनिर्णयप्रासादमें जैनमतकी प्राचीनता दिखलानेके लिये उद्धृत किया है।

नाम निशान भी न था किन्तु जो आचार्य विक्रमकी सातवीं तथा नवमी शताब्दिमें हुये हैं वे भी नग्न शब्दका प्रयोग दिगम्बरियोंके लिये ही करते हैं—

कुसुमाञ्जलिके प्रणेता उदयनाचार्य १६ वें पृष्ठमें लिखते हैं कि—

निरावरण इति दिगम्बराः

इसी तरह न्यायमञ्जरीके बनाने वाले जयन्त भट्ट १६७ वें पृष्ठमें लिखते हैं कि—

> क्रियातु विचित्रा भत्यागमं भवतु नाम । भस्मजटा-
> परिग्रहो वा दण्डकमण्डलुग्रहणं वा रक्तपटधारणं वा
> दिगम्बरता वाऽवलम्ब्यतां कोऽत्र विरोधः

इनके अलावा और भी जितनी जगहँ प्रमाण आते हैं वे 'विवसन' 'दिगम्बर' 'नग्न' इत्यादि शब्दोंमें व्यवहृत किये जाते हैं। वे सब दिगम्बर मतसे सम्बन्ध रखते हैं तो फिर क्यों कर यह माना जाय कि दिगम्बर धर्म आधुनिक है ? इसके आधुनिक कहने वालोंको ऐसे प्रमाण भी देने चाहियें जिन्हें सर्व साधारण मान सकें। केवल भलता ही किसी पर आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। आजका जमाना नवीन ढङ्गके प्रवाहमें वह रहा है। अब लोग यह नहीं चाहते हैं कि बिना किसी प्रवल युक्तिके कोई बात मानली जावे। किन्तु जहां तक होसके उसे युक्ति और प्रयुक्तियोंके द्वारा अच्छी तरह परामर्श करके मानना चाहिये। जब प्रत्येक विषयके लिये यह बात है तो यह तो एक बड़ा भारी विषम विषय है। इसमें तो बहुत ही सुदृढ़ प्रमाण होनें चाहियें। हम यह नहीं कहते कि आप लोग हमारे कहे हुयेको अपने हृदयमें स्थान दें। परन्तु साथ ही इतना अवश्य अनुरोध करेंगे कि—यदि हमारा लिखा हुआ अयुक्त होतो उसे सर्व साधारणमें अयुक्त सिद्ध करो। हमें इसबातसे बड़ी खुशी होगी कि—जिस तरह हमने अपने प्राचीनत्व सिद्ध करनेमें एक तीसरे ही मतके प्रमाणोंको उपस्थित किये हैं उसी तरह तुम भी अपने कहे हुये प्रमाणको सप्रमाण प्रमाणभूत ठहरा दोगे। हम प्रतिज्ञा पूर्वक यह बात लिखते हैं और न ऐसे लिखनेसे हमें किसी

तरहकी विभीषिका है। यदि हमें कोई यह बात सिद्ध करके बतादेंगे कि—दिगम्बर धर्म आधुनिक है। इसका समाविर्भाव विक्रमकी दूसरी शताब्दिमें हुआ है तो हमें दिगम्बर धर्मसे ही कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु प्रयोजन है अपने हितसे सो हम फौरन अपने श्रद्धानको दूसरे रूपमें परिणत कर सकते हैं। परन्तु साथही हमारे ऊपर कहे हुये वचनों का भी पूर्ण खयाल रहे। केवल अपने ग्रन्थमात्रके लिखनेसे हम कभी उसे सप्रमाण नहीं समझेंगे। यदि लिखने मात्र पर ही विश्वास कर लिया जाय तो संसारके और २ मतोंने ही क्या विगाड़ा है? जो वे अवहेलनाके पात्र समझे जाय?

इस पर प्रश्न यह होसकता है कि जैसे तुम्हें अपने धर्म पर लिखे-हुयेका विश्वास है वह भी तो लिखा हुआ ही है न? वेशक वह लिखा हुआ है और उस पर हमारा पूर्ण विश्वास भी है। क्योंकि वह हमारी परीक्षामें शुद्ध रत्न बचा है। और यही कारण है कि—दूसरे पर अश्रद्धा है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि हमें कोई यह बात समझादे कि दिगम्बर धर्म आधुनिक और जीवोंका अहित करने वाला है फिर भी उस पर श्रद्धान रहे। अन्यथा हम तो यही अनुरोध करते हैं और करते रहेंगे कि सबसे पहले यह विचारना जरूरी है कि—जीवका वास्तविक हित किस धर्मके द्वारा होसकता है? और कौन धर्म ऐसा है जो संसार में निराबाध है? इस विषयकी गवेषणामें लोगोंको निष्पक्षपाती होना चाहिये और नीचेकी नीति चरितार्थ करना चाहिये—

वारि हंस इव क्षीरं सारं गृह्णाति सज्जनः।
यथाश्रुतं यथास्वत्थं प्रोच्यानां हि कृतिर्मता॥

वैदिक सम्प्रदायके महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थोंके अनुसार यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं कि—दिगम्बर धर्म श्वेताम्बर धर्मसे प्राचीन है और दिगम्बरों हीं में से इसकी संसारमें नवीन रूपसे अवतारणा हुई है। वह केवल अपनी सामर्थ्यके हीन होनेसे। क्योंकि यदि उनकी सक्तिका ह्रास न होता तो न वे शास्त्र विहित जिनकल्पका अनादर करते और न उन्हें अपने नवीन मतके चलानेकी जरूरत पड़ती।

कदाचित्कहो कि—यदि, जिनकल्पके तुम बड़े श्रद्धानी हो और उसे ही प्रधान समझते हो तो आज तुम लोगोंमें यह हालत है कि—एक साधु तक ऐसा नहीं देखा जाता जो जिनकल्पका नमूना हो ? और हम लोगोंमें साधु तो दखनेमें आते हैं। क्या जिन भगवानका यह कहना कि—पञ्चम कालके अन्त पर्यन्त साधुओंका सद्भाव रहेगा व्यर्थ ही चला जायगा ?

इसके उत्तरमें विशेष नहीं लिखना चाहते। किन्तु इतनाही कहना उचित समझते हैं कि-जो बात जिन भगवानकी ध्वनिसे निकली है वह वास्तवमें सत्य है और वैसा ही वर्त्तमानमें दिखाई भी दे रहा है। जिन भगवानने जो यह कहा है कि पञ्चमकालके अन्त पर्यन्त साधुओंका सद्भाव रहेगा परन्तु इसके साथ २ यह भी तो कह दिया है कि बहुत ही विरलतासे। तो यदि केवल इस देशमें वर्त्तमान समयमें उनके न भी होनेसे यह विश्वास तो नहीं किया जा सकता कि मुनियोंका सर्वथा अभाव हो? दूसरे—तुम लोगोंमें शासन विरुद्ध वेषके धारक यदि बहुत भी साधु मिल जावें तो उससे हमें लाभ क्या ? अरे! आज इस देशमें हंस सर्वथा नहीं देखे जाते तो क्या विश्वास भी यही कर लिया जाय कि हंस होता ही नहीं है ? विचारशील इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे—

ध्यातो गरुड़बोधेन न हि हन्ति विषं बकः।

बगलेका गरुड़ रूपमें कोई कितना भी ध्यान क्यों न करे परन्तु वह कभी विषको दूर नहीं कर सकता। तो उसी तरह केवल ऐसे वैसे साधुओंका सद्भाव होने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि साधुओंके अभावकी पूर्त्ति हो जायगी ! वैसे तो आज केवल भारतवर्षमें ही बावन लाख साधु हैं। परन्तु उनसे उपयोग क्या सधेगा ?

हां ! एक बात और श्वेताम्बर लोग कहते हैं जिससे वे अपने प्राचीन होनेका दावा रखते हैं। वह यह है कि—हम लोगोंमें अभी-तक खास गणधरोंके बनाये हुये अङ्गशास्त्र हैं और तुम लोगोंमें नहीं है। इससे भी हम प्राचीन सिद्ध होते हैं। परन्तु यह प्रमाण भी सङ्गत नहीं है। इसमें हमें बाधा यह देना है कि—यदि तुम खास गणधरों

के शास्त्र अभीतक अपनेमें विद्यमान बताते हो तो कोई हर्ज नहीं। हम तो यही चाहते हैं कि—किसी तरह वस्तुका निश्चय होजाय। परन्तु साथ ही इतनी बातें और सिद्ध करना होंगी ? यदि वे शास्त्र खास गणधरोंके बनाये हुये हैं तो जिस २ अङ्गकी तुम्हारे ही शास्त्रों में जितनी २ संख्या कही है उतनीकी विधि ठीक २ मिला दो ? यदि कहोगे कि—कलियुगमें बहुतसा भाग विच्छेद होगया है। अस्तु, यही सही, परन्तु उन शास्त्रोंके प्रकरण देखनेसे तो यह नहीं जाना जाता कि यहांका भाग खण्डित होगया है वह तो आदिसे लेकर अन्त पर्यन्त बिल्कुल ससम्बद्ध मालूम पड़ता है। फिर यह कैसे माना जाय कि इसका भाग नष्ट होचुका है ? और न इतनी पदोंकी संख्या ही मिलती हैं जितनी शास्त्रोंमें लिखी है। फिर भी कदाचित्कहो कि-पद तो हम व्याकरणके नियमानुसार सुबन्त और तिङन्तको मानेंगे। खैर ! यही सही, परन्तु ऐसा मानने पर तो वह संख्या शास्त्रके कथनको भी बाधित कर देगी ? फिर उसका निर्वाह कैसे होगा ? फिर भी यदि कहो कि—ये जो अङ्ग शास्त्र हैं वे गणधरोंके कथनानुसार महर्षियोंके द्वारा बनाये गये हैं। यदि यही ठीक है तो महर्षियोंने उनके रचयिताओंमें अपना नाम न रख कर गणधरोंका नाम क्यों रक्खा ? क्या उन्हें किसी तरहकी विभीषिका थी ? जो उन्होंने बड़ोंके नामसे अपने बनाये हुये ग्रन्थ प्रकाशित किये। जाति पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा ? उन्होंने अपने दूसरे महाव्रतका उल्लंघन करना क्यों उत्तम समझा ? दूसरे—गणधरोंकी जैसी गंभीर वाणी होती है वैसी इनकी क्यों नहीं ? जैसे ऋषियोंके ग्रन्थोंकी भाषा है वैसी ही इनकी भी है। इत्यादि कई हेतुओंसे ये अङ्गादि शास्त्र खास गणधरोंके द्वारा विहित प्रतीत नहीं होते। यदि सिद्ध कर सकते हो तो करो ! उपादेय होगा तो सभी स्वीकार करेंगे।

दिगम्बरोंका तो इस विषयमें सिद्धान्त है कि—अङ्ग पूर्वादि शास्त्रोंका लिखा जाना ही जब नितान्त असम्भव है तो उनका होना तो कहांतक सम्भव है इसका जरा अनुभव करना कठिन है। परन्तु अभी जितने शास्त्र हैं वे सब परम्पराके अनुसार अङ्गशास्त्रके अंश ले २

कर बने हैं। उनके बनाने वाले गणधर न होकर आचार्य लोग हैं। और यही कारण है कि–उन्होंने सब ग्रन्थ अपने ही नामसे प्रसिद्ध किये है। यह युक्ति भी श्वेताम्बर मतके प्राचीन सिद्ध करनेमें असमर्थ है तो अभी ऐसा कोई प्रबल प्रमाण नहीं है जिससे श्वेताम्बर मत दिगम्बर मतसे पहलेका सिद्ध होजाय? और दिगम्बर मत पहलेका है यह बात वैदिक सम्प्रदायके ग्रन्थोंके अनुसार हम पहले ही सिद्ध कर आये हैं। इसके अलावा दिगम्बरोंके प्राचीन सिद्ध होनेमें यह भी हेतु देखा जाता है कि—

उनके कितने आचार्य ऐसे हुये हैं जो उनका अस्तित्व विक्रम महाराजकी पहली ही शताब्दिमें सिद्ध होता है। देखिये तो—

कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम सं. ४९ में हुये हैं। उन्होंने पश्चास्तिकायादि कितने ही ग्रन्थ निर्माण किये हैं। समन्तभद्रस्वामी वि० स० १२५ में हुये हैं इनके बनाये हुये गन्धहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरण्ड, आप्तपरीक्षादि कितने ग्रन्थ बनाये हुये हैं। बनारसका शिवकोटि राजा भी उन्हीं के उपदेशसे जैनी हुआ था। उसने भी भगवतीआराधना प्रभृति कई ग्रन्थ निर्माण किये हैं। इनके सिवाय और भी कितने महर्षि दिगम्बर सम्प्रदायमें विक्रमकी पहली शताब्दिमें हुये हैं। इसलिये श्वेताम्बरोंका–दिगम्बर मतकी उत्पत्ति वि० सं० १३८ में कहना सर्वथा बाधित सिद्ध होता है। जब किसी तरह दिगम्बर मत श्वेताम्बर मतके पीछे निकला सिद्ध नहीं होता तो उनकी कथा–कल्पना कहां तक ठीक है? इसकी परीक्षाका भार हम अपने पाठकोंके ऊपर छोड़ते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे निष्पक्ष दृष्टिसे दोनों मतके ऊपर विचार करें।

यद्यपि हमारी यह इच्छा थी कि–ऊपर लिखे हुये आचार्योंके बाबत यह सविस्तर सिद्ध करें कि ये सब विक्रमकी पहली शताब्दिमें हुये हैं। परन्तु प्रस्तावना इच्छासे अत्यधिक बढ़ गई है। इसलिये पाठकोंकी अरुचि न हो सो यहीं पर विराम लेकर आगेके लिये आशा दिलाते हैं कि हम श्वेताम्बर तथा दिगम्बरोंके सम्बन्धमें एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने वाले हैं उसीमें यह बात भी अच्छी तरह

सिद्ध करेंगे। पाठक थोड़े समयके लिये हमें अपनी क्षमाका भाजन बनावें।

हमने यह प्रस्तावना ठीक २ निर्णयके अभिप्रायसे लिखी है। हमारी यह इच्छा नहीं है कि हम किसीके दिलको दुःखावें। परन्तु सत्य झूंठ के निर्णयकी परीक्षा करनेका अवश्य अनुरोध करेंगे। और इसी आशयसे हमने लेखनी उठाई है। यदि कोई महाशय इसका सङ्गत उत्तर देंगे तो उस पर अवश्य विचार किया जायगा। बस इतना कह कर हम अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हैं और साथही—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

इस नीतिके अनुसार क्षमाकी प्रार्थना करते हैं। क्योंकि—

न सर्वः सर्वं जानाति

इसलिये भूल होना छद्मस्थोंके लिये साधारण बात है। बुद्धिमानों को उस पर खयाल न करके प्रयोजन पर दृष्टि देनी चाहिये।

भद्रबाहुचरित्रकी हमें २ प्रतियें मिली हैं परंतु वे दोनों बहुधा अशुद्ध हैं। इसलिये संस्कृत पाठके संशोधनमें हम कहां तक सफल मनोरथ हुये हैं इसे पाठकही विचारें। तब भी बहुत ही अशुद्धियोंके रहजाने की संभावना है। उन्हें पुनरावृत्तिमें सुधारनेका उपाय करेंगे। हिन्दी अनुवादका यह हमारा दूसरा ग्रन्थ है। अनुवाद जहां तक होसका सरल भाषामें करनेका उपाय किया है पाठकोंको यह कहां तक रुचि कर होगा इसका हमें सन्देह है। क्योंकि हमारी भाषा वैसी नहीं है जो पाठकोंके दिलको लुभाले। अस्तु, तो भी मूल ग्रन्थका तात्पर्य तो समझमें आ ही जावैगा। अभी इतने ही में सन्तोष करते हैं।

ता० १७। २। ११
काशी

जातिकादास—
उदयलाल जैन
काशलीवाल।

प्रस्तावनाका शुद्धि-पत्र

पृष्ठ		पंक्ति		अशुद्धि		शुद्धि
२	...	८	...	सत्युपयेस्य	...	सत्युपेयस्य
६	...	१२	...	बाहर	...	पारह
७	...	९	...	लिय	...	लिये
"	...	२६	...	दुभिक्ष	...	दुर्भिक्ष
८	...	२८	...	जिनेचन्द्र	...	जिनचन्द्र
१४	...	१७	...	१३९	...	१३६

अनुवादका शुद्धि-पत्र

पृष्ठ		पंक्ति		शुद्धि		शुद्धि
६	...	९	...	लक्षमी	...	लक्ष्मी
"	...	१२	...	पुड्रवर्द्धन	...	पुण्ड्रवर्द्धन
९	...	१०	...	विचार	...	विचारे
"	...	१७	...	चरणामें	...	चरणोंमें
"	...	४	...	लिये हैं	...	लिया है
१०	...	३	...	समस्थ	...	समस्त
११	...	८	...	पिता	...	विधाता
१२	...	१२	...	द्वितिया	...	द्वितीया
१४	...	८	...	शलि	...	शील
१८	...	१२	...	आनदिन्त	...	आनन्दित
२४	...	१	...	सह्रुपका	...	पहसको

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धिः	शुद्धिः
२९	२	चन्द्रलमण्डल	चन्द्रमण्डल
३७	१०	लुटाकर	लुटकर
१२	१२	द्वितिया	द्वितीया
५०	१३	निन्तर	निरन्तर
५०	१६	इल्लंघन	उल्लङ्घन
५४	१४	भय	भयसे
५६	३	नम्र	नग्न
५७	११	दशमें	देशोंमें
६१	१०	गुरू	गुरु
६४	५	पात्माओंने	पापात्माओंने
६५	१	कहते हुआ	कहता हुआ
६८	१	रूपशौभाग्य	रूपसौभाग्य
६९	१	उज्यायिनी	उज्जयिनी
७०	२	नम्र	नग्न
७१	३	संसगमुनि	ससङ्गमुनि
७२	९	हाजानेसे	होजानेसे
७३	६	खड़	खड्ग
७५	३	आर	और
”	११	आहाकी	आहारकी
७७	३	होसती ?	होसकती ?
”	६	स्त्रिये	स्त्रियें
”	१३	संयय	संयम
७८	१	नही मानी सकती,	नहीं मानी जा सकती
७९	३	परीग्रही	परिग्रही
”	१३	अन्तरग	अन्तरङ्ग
८०	८	संम्यक्त्व	सम्यक्त्व
८४	१	सम्बन्धि	सम्बन्धी
८८	५	विरद्ध	विरुद्ध
८९	५	गुरुपवेश	गुरूपदेश
९१	२	बुद्धिमानो	बुद्धिमानों

पृष्ठ		पंक्ति		अशुद्धिः		शुद्धिः
१४	...	१३	...	मद्गनल	...	मद्गत्न
१५	...	२	...	वंदयवंश	...	वंदसवंश
"	...	१०	...	माताका	...	माताका नाम

मूलग्रन्थस्य शुद्धिपत्रम्

पृष्ठे		पङ्क्तौ		अशुद्धिः		शुद्धिः
२	...	६	...	परमेष्टि	...	परमेष्ठि
५	...	७	...	निर्गतम	...	निर्गतम्
१३	...	६	...	विश्वास:	...	विभाग:
१५	...	७	...	विठरम्	...	विष्टरम्
१६	...	५	...	प्यापनाम	...	ऽथ्यापनाय
२०	...	६	...	तपो	...	त्रपो
३३	...	४	...	महव:	...	महवो
३३	...	६	...	क्षारे	...	क्षीर
३८	...	४	...	दद्माकरो	...	पद्माकरो
४१	...	७	...	राजिता:	...	राजित:
४३	...	३	...	हर्वी	...	ह्वी
४७	...	१	...	यदष्टं	...	यदृष्टं
"	...	४	...	यन्दे	...	मुवन्दे
४८	...	७	...	त्वरित	...	त्वरितं
४९	...	२	...	हम	...	हृ
५१	...	१	...	आनन्तेपु	...	जनान्तेपु
"	...	३	...	दरिद्रन्यो	...	दरिद्रेभ्यो
"	...	६	...	मात्राड्:	...	मात्राशा:
५४	...	१	...	रंका	...	रंका:

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धिः	शुद्धिः
५८	३	तच्छुत्वा	तच्छ्रुत्वा
५६	१	मात्रं	पात्रं
६५	१	तथ	तथा
६८	३	प्रार्थना	प्रार्थ
७१	६	व्यरारिचत्	व्यरीरचत्
७३	३	मृतेः	मूर्तेः
७७	७	तार्थकर्तणां	तीर्थकर्तृणां
८०	३	स्वङ्ग	प्लङ्ग
८४	५	विरे	वीरे
८५	५	विरुद्धैः	विरुद्धैः
८६	१	त्रातं	जातं
८९	५	कोचित्कोचित्	केचित्केचित्
९२	१	स्याद्वा	स्याद्वादा

ॐ

नमः श्रीभद्रबाहुमुनये

श्रीभद्रबाहु-चरित्र ॥

(सभाषानुवाद)

श्रीशशिविशद जिनेशपद कुगति भ्रमण दुख ताप ॥
हरकर, निजचैतन्यगुण करहु दान गतपाप ! ॥ १ ॥
त्रिभुवन जन तुव भक्ति-वश त्रिभुवनके अवतंस ।
हुये, प्रभो ! अब क्यों न मुझ-पर करुणा है अंश ? ॥ २ ॥
दिनमणि भी तुव कान्तिसे निवल कान्ति है नाथ ! ॥
चूरहिं जगतम, तो न क्यों हरहु हृदय तम ? नाथ ! ॥ ३ ॥
जनश्रुति शशि शीतल कहैं मुझे न यह स्वीकार ॥
जनन-ताप मिटता नहीं फिर यह क्यों निरधार ? ॥ ४ ॥
इस अपार सन्तापके हुये विनाशक आप ॥
तिहिं मृगाङ्क शीतल प्रभो ! कह लाये जग आप ॥ ५ ॥
गुण मुक्तामणि रत्नके पारावार अपार ॥
गुण मुक्तामणि दान कर नाथ ! करहु भवपार ॥ ६ ॥
इह विध मङ्गल-प्रभव-शुभ-विधि-प्रभाव वश विघ्न ॥
है निरास, इह ग्रन्थ शुभ हो पूरण निर्विघ्न ॥ ७ ॥
नाथ ! सुविनय अनाथकी सुनकर करुणापूर ! ॥
अवलम्बन कर कमलका देकर कलिल विचूर ॥ ८ ॥
रत्नकीर्त्ति मुनिराजने रचौ सुजन हित हेतु ॥
भद्रबाहु मुनि तिलक वृत सो भव नीरधि सेतु ॥ ९ ॥
तिहिं भाषा मैं मन्दधी मूल ग्रन्थ अनुसार ॥
लिखहुँ कहीं यदि भूल हो शोधहु सुजन विचार ॥ १० ॥

ॐ

ग्रन्थारम्भ ।

जो अपने केवलज्ञान-रूप सूर्यके द्वारा लोगोंके हृदयस्थित अन्धकारका भेदन करके महावीर (अनुपम सुभट) पनेको प्राप्त हुये हैं वे सन्मति (महावीर) जिनेन्द्र हम लोगोंके लिये समीचीन बुद्धि प्रदान करें॥१॥

धर्म से शोभायमान, वृषभ के चिह्न से चिह्नित, इन्द्रसे अर्चनीय, धर्मतीर्थके प्रवर्त्तक तथा कर्म शत्रुओंके भेदने वाले ऐसे श्रीवृषभनाथ भगवानके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

मनोभिलषित उत्कृष्टपदकी प्राप्तिके लिये उत्कृष्ट-पदको प्राप्त हुये पञ्चपरमेष्ठिके उत्कृष्ट-लक्ष्मी-विराजित चरणोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

ॐ

श्रीभद्रबाहुचरित्रम्.

सद्बोधभानुना भित्वा जनानामन्तरं तमः । यः सम्मतित्वमापन्नः सन्मतिं सम्मतिः क्रियात् ॥ १ ॥ वृषभं वृषभं वन्दे वृषभाङ्कं वृषाऽर्चितम् । वृषतीर्थप्रणेतारं भेत्तारं कर्मविद्विषाम् ॥ २ ॥ परमेष्टपदाप्तानां परमेष्टपदाप्तये । परमेष्टपदौ वन्दे सत्पञ्चपरमेष्ठिनाम् ॥ ३ ॥ आर्हती भारती पूज्या लोकाऽलोकप्रदीपिका। रजो विधूय

लोक तथा अलोकके अवलोकनके लिये प्रदीपकी समान जिनवाणी (सरस्वती) हमारे पाप रूपरजका नाश कर निरन्तर निर्मल बुद्धि प्रदान करै ॥ ४ ॥

संसार समुद्र में पवित्र आचरण रूप यानपात्रके द्वारा गौरव को प्राप्त हुये साधुओंके पदपङ्कज मेरे मनोभिलषित अर्थकी सम्प्राप्तिके करने वाले होवें ॥ ५ ॥

ग्रन्थकार साधुराज रत्नकीर्ति महाराज अपनी लघुता बताते हुये कहते हैं कि—यद्यपि मैं ग्रन्थ निर्माण करनेकी शक्तिसे रहित हूं तथापि गुरुवर्यकी उत्तेजनासे जैसा उनके द्वारा भद्रबाहु मुनिराजका चारित्र सुना है उसे उसीप्रकार कहूंगा ॥ ६ ॥ जिसके श्रवण से—मूर्ख बुद्धियों के मिथ्या-मोहरूप गाढान्धकारका नाश होकर पवित्र जैनधर्ममें निर्मल बुद्धि होगी ॥ ७ ॥

इस भरतक्षेत्र सम्बन्धि मगधदेशमें अलकापुरीके समान राजगृह नगर है ॥ ८ ॥ उसके पालन करने वाले—जिन्हें समस्त राजमण्डल नमस्कार करते हैं तथा

नो नित्यं तनोतु विमलां मतिम् ॥ ४ ॥ श्रेयोऽर्थसिद्धिकरणाश्चरणाः सन्तु गौरवाः। गौरवाप्ताः सुचरणैस्तरणैर्मे भवाऽम्बुधौ ॥ ५ ॥ लक्ष्यया हीनोऽपि वक्ष्येऽहं गुरुभक्त्या प्रणोदितः। श्रीभद्रबाहुचरितं यथा ज्ञातं गुरूक्तितः ॥ ६ ॥ यच्छ्रुतं मुग्धबुद्धीनां मिथ्यामोहमहातमः। धुनुते तनुते शुद्धां जैनमार्गेऽमलां मतिम् ॥ ७ ॥ अथाऽत्र भारते वर्षे विषये मगधाऽभिधे। पुरं राजगृहं भाति पुरन्दरपुरोपमम् ॥ ८ ॥

कल्याणके निलय भव्यात्मा महाराज श्रेणिक, हैं। और उनकी कान्ताका नाम चेलनी है ॥ ९ ॥ एकसमय महाराज श्रेणिक—वनपाल के मुखसे विपुलाचल पर्वत पर श्री महावीर जिनेन्द्रका समवशरण आया सुनकर उनके अभिवन्दनकी अभिलाषासे गीत नृत्य वादित्रादि प्रचुर महोत्सव पूर्वक (जिनके द्वारा समस्त दिशायें शब्द-मय होती थीं) चले ॥ १०—११ ॥ और देवता लोगोंसे महनीय तथा केवलज्ञान रूप उज्वल कान्तिके धारक श्रीवीरजिनेन्द्रका समवलोकन कर तथा स्तुति नमस्कार पूजन कर मनुष्योंकी सभामें बैठे ॥ १२ ॥

वहाँ जिन भगवानके द्वारा कहे हुये यति और श्रावक धर्म का स्वरूप विनय पूर्वक सुना तथा करकमल-मुकुलित कर नमस्कार पूर्वक पूछा—देव ! इस भारतवर्षमें दुःषम पञ्चम कालमें आगे कितने केवलज्ञानी तथा कितने श्रुतकेवली होंगे ? और आगे क्या क्या होगा ? ॥ १३—१४ ॥

नताशेषनृपश्रेणिः श्रेणिकः श्रेयसो निधिः। भावुकः पालकस्तस्य चेलनी महिषी-षिता ॥ ९ ॥ एकदाऽसौ विशांनाथो विदित्वा वनपालतः । विपुलाद्रौ महावी-रसमवसृतिमागताम् ॥ १० ॥ परानन्दप्रभापभोऽचलद्वंद्यं विवन्दिषुः। तौर्यत्रिकरवा-रावबधिरीकृतदिङ्मुखम् ॥ ११ ॥ निरीक्ष्य सुरसंसेव्यं केवलोज्वलरोचिषम् । स्तुत्वा नत्वा समभ्यर्च्य तस्थिवान्नरसंसदि ॥ १२॥ द्विधा धर्मं जिनोद्गीतमश्रावीत्प्रश्रयान्वितः। प्रणिपत्य ततोऽप्राक्षीत् करौ मुकुलयन्नृपः॥ १३॥ देवाऽत्र दुःषमे काले केवलश्रुतबोधकाः। कियंतोऽग्रे भविष्यन्ति किं किं चान्ते भविष्यति ॥ १४ ॥ श्रुत्वा तदीयं व्याहारं

श्रेणिक महाराजके प्रश्न के उत्तर में भगवान वीरजिनेन्द्र—गंभीर मेघ समान दिव्यध्वनिके निनाद से भव्यरूप मयूरोंको आनन्दित करते हुये बोले—नराधिनाथ ! मेरे मुक्ति जानेके बाद—गौतम, सुधर्म, जम्बू ये तीन केवलज्ञानी होंगे और समस्त शास्त्रके जानने वाले श्रुतकेवली—विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु ये पांच महर्षि होंगे। और पंचम कलिकालमें ज्ञान धर्म धन तथा सुख ये दिनों दिन घटते जावेंगे ॥ १५—१८ ॥

हे श्रेणिक ! अब आगे तुम भद्रबाहु—मुनिका चरित्र सुनो। क्योंकि—जिसके श्रवणसे मूर्ख लोगोंको अन्यमतोंकी उत्पत्ति मालूम हो जायगी ॥ १९ ॥ उस समय श्रेणिक-महाराजने-श्री वीरजिनेन्द्रके मुखसे भद्रबाहु मुनिका चरित्र जिसप्रकार सुनाथा उसे उसी प्रकार इससमय संक्षेपसे गुरुभक्तिके प्रसाद से मैं कहता हूँ ॥ २० ॥

व्याजहार गिराम्पतिः। गंभीरघननिर्घोषैर्मोदयन् भव्यकेकिनः ॥ १५ ॥ मयिमुक्तिमिते राजन्। गौतमाख्यः स्वधर्मवाक्। जम्बूनामा भविष्यन्ति त्रयोऽमी केवले-क्षणाः ॥ १६ ॥ विश्वश्रुतविदो विष्णुः नन्दिमित्रोऽपराजितः। तुर्यो गोवर्द्धनो भद्रो भद्रबाहुस्तथाऽन्तिमः ॥ १७ ॥ श्रुतकेवलिसीमानः पञ्चैतेऽत्र महर्षयः। बोधो धर्मो धनं सौख्यं कलौ हीनत्वमेष्यति ॥ १८ ॥ युग्मम्.

भद्रबाहुभवं वृत्तं श्रेणिकाऽतो निशम्यताम्। यच्छ्रुतेऽन्यमतोत्पत्तिर्बुध्यते मुग्धमानसैः ॥ १९ ॥ श्रेणिकेन यथाऽश्रावि श्रीवीरमुखनिर्गतम्। तथाऽहमधुना

इस लोक में विख्यात जम्बूद्वीप है। वह आदि होने पर भी अनादि है। परन्तु यह असम्भव है कि-जो आदि है वह अनादि नहीं हो सकता। इस विरोधका परिहार यों करना चाहिये कि-यह जम्बूद्वीप और २ धातकी खण्ड आदि सब द्वीपोंमें आदि (पहला) द्वीप है। इसलिये जम्बूद्वीपके आदि होकर अनादि होनेमें दोष नहीं आता। यह द्वीप षटकुलाचल पर्वतों से सेवनीय है। अर्थात्--इसके भीतर छह कुलाचल शैल हैं--तो समझिये कि--प्रचुर लक्ष्मी तथा कुलक्रमसे वशवर्त्ति राजाओंके द्वारा सेवनीय क्या वसुन्धराधिपति है ? उस जम्बूद्वीपके ललाटके समान उत्तम भरत क्षेत्र सुशोभित है। और उसके तिलक समान पुडूवर्द्धन देश है॥२१-२२॥

जिस देशमें-धन धान्य तथा मनुष्योंसे युक्त, धेनुओंके समूहसे विभूषित तथा महिष (भैंस) निवहसे परिपूर्ण छोटे२ ग्राम राजाओंके समान मालूम देते हैं। क्योंकि-राजा लोग भी धन धान्य जनसमूह पृथ्वीमण्डल तथा राणियोंसे शोभित होते हैं॥ २३ ॥

वच्मि समासेन गुरूक्तितः ॥ २० ॥ जंबूद्वीपोऽथ विख्यात आद्योऽनादिरपीरितः। कुलभूधरसंसेव्यो नृपो वा विपुलश्रिया ॥२१॥ तदीयभालवद्भाति भारतं क्षेत्रमुत्तमम् तमालपत्रवत्तस्य देशोऽभूत्पौण्ड्रवर्द्धनः ॥ २२ ॥ धनधान्यजनाकीर्णा गोमंडलविभूषिताः। ग्रामा यत्र नृपायन्ते महिषीकुलसंकुलाः ॥ २३ ॥ फलदा विहितच्छायाः

जिस देशमें-आश्रित पुरुषोंको उत्तम फलके देनेवाले, शीतल छायाके करने वाले, विशाल शोभासे युक्त, पृथ्वीके आश्रित तथा देखनेमें मनोहर वृक्ष श्रावकों के समान मालूम होते हैं। क्योंकि-श्रावक लोग भी लक्ष्मीसे युक्त, उत्तम क्षमाके स्थान तथा सम्यग्दर्शनके धारक होते हैं ॥ २४ ॥ जिस देशमें नदीमात्रसे निष्पन्न तथा मेघ मात्रसे निष्पन्न क्षेत्र (खेत) से सुशोभित तथा मनोभिलषित धान्य की देने वाली वसुन्धरा चिन्तामणिके समान मालूम पड़ती है। क्योंकि-चिन्तामणि भी तो वांछित वस्तुओं का देने वाला होता है ॥२५॥

जिस देशमें-पुरुषोंको-भ्रमर विलसित कमल लोचनोंसे आनन्द की बढ़ाने वाली, पक्षियोंकी श्रेणियोंसे शोभित, निर्मल जलसे परिपूर्ण तथा जिनका सुन्दर आकार देखने योग्य है ऐसी सरसियें शोभती हैं तो समझिये कि-देशकी उत्कृष्ट शोभा देखनेके लिये कौतूहल से प्रगट हुई पृथ्वी रूप कान्ता की आनन श्री है क्या? क्योंकि मुखश्री भी लोचनोंसे आनन्द देनेवाली दाँतोंकी पंक्तिसे विराजित, निर्मल, तथा देखने योग्य होती है ॥ २६-२७ ॥

संश्रितानां पृथुश्रियः । श्राद्धायन्ते नगा यत्र क्षमाधाराः सुदर्शनाः ॥ २४ ॥ नदीमातृकसद्देवमातृकक्षेत्रमंडिताः । चिंतामणीयते यत्र स्वेष्टशस्य प्रदा मही ॥२५॥ सरस्यो यत्र राजन्ते ह्यालिवारिजलोचनैः । पुंसां प्रमोदकारिण्यो द्विजराजिविराजिताः ॥ २६ ॥ प्रसन्ना दर्शनीयाश्च धरावध्वा मुखश्रियः । यद्देशं सुषमां द्रष्टुं कुतुकाद्वा विजृम्भिताः ॥ २७ ॥ युग्मम्.

तथा जिस देशमें प्रसूति गृहमें अरिष्ट शब्द का व्यवहार होता था, प्रतारण पना जम्बुक (श्याल) में था, बन्धन हाथियोंमें था, पल्लवोंमें छेदन होता था, भङ्गपना जलतरंगमें था, चपलता बन्दरोंमें थी, चकवाक रात्रिमें सशोक होता था, मद विशिष्ट हाथी था तथा कुटिलता स्त्रियोंकी भ्रूवल्लरियोंमें थी। इन बातोंको छोड़ कर प्रजामें न कोई अरिष्ट (बुरा करने वाला) था, न ठगने वाला था, न किसी का बन्धन होता था, न किसीका छेदन होता था, न किसीका नाश होता था, न किसीमें चपलता थी, न किसीको किसी तरह का शोक था, न कोई अभिमानी था तथा न किसी में कुटिलता थी। भावार्थ—पुण्ड्रवर्द्धनदेशकी प्रजा सर्व तरह आनन्दित थी उसमें किसी प्रकार का उपद्रव न था ॥२८-२९॥

जिस पुण्ड्रवर्द्धन देशमें स्वर्गके खण्ड समान अत्यन्त मनोहर कोट्टपुर नाम नगर अट्टाल सहित बडे २ ऊँचे गोपुरद्वार खातिका तथा प्राकार से सुशोभित है ॥३०॥

प्रसूतिगेहेऽरिष्टाख्या जम्बुके वञ्चकध्वनिः । बंधो गजे छदे छेदो यत्र भङ्गस्तरङ्गके ॥ २८ ॥ चापल्यं तु कपौ नक्तं कोके शोको मदो द्विपे । कौटिल्यं स्त्रीभ्रुवोर्यस्मात्ततोऽसौनिरुपद्रवः ॥ २९ ॥

युग्मम्.

तत्र कोट्टपुरं रम्यं द्योतते नाकखण्डवत् । अगाधोत्तुङ्गसाट्टालैः खातिकाशालगोपुरैः ॥ ३० ॥ प्रोत्तुंगशिखरा यत्राऽऽबभुः प्रासादपंक्तयः । कलङ्कं वा वियोऽलोप्

जिसमें–अतिशय उन्नत २ शिखरवाली हर्म्यश्रेणियें ऐसी मालूम पड़ती हैं समझिये कि–अपने ध्वजा रूप हाथोंसे चन्द्रमाका कलंक मिटानेके लिये खड़ी हैं ॥३१॥ जिस नगरीमें–निर्मल, सुकृतके समूह समान भव्य-पुरुषोंके द्वारा सेवनीय जिन चैत्यालयोंके शिखर सम्बन्धि अनेक प्रकार महा अमौल्य-मणि-माणिक्यसे जड़े हुये सुवर्णोंके कलशोंकी चारों ओर फैलती हुई किरणोंसे गगन मंडलमें विचित्र चन्द्रोपक (चँदोवा) की शोभा होती थी ॥३२–३३॥ जिस नगरीमें दानी लोग यद्यपि थे तो दयाशाली परन्तु विचार कुबेरको तो निर्दय होकर निरन्तर महापीड़ा करते थे। भावार्थ–वहाँके दानी लोग धनदसे भी अधिक उदार थे ॥३४॥ जिन लोगों का धन तो जिन पूजादिमें व्यय होता था, चित्त जिनभगवान्‌के धर्ममें लीन रहता था, गमन अच्छे २ तीर्थोंकी यात्रा करनेके लिये होता था, कान जैन शास्त्रों के श्रवणमें लगते थे, वे लोग स्तुति गुणवानोंकी करते थे तथा नमस्कार जिनदेवके चरणोंमें करते

केतुहस्तैः समुद्यताः ॥ ३१ ॥ नानानेकमहानर्घ्यमणिमाणिक्यमंडितैः । स्वर्णकलश-कुम्भोरुप्रसरत्किरणोत्करैः ॥३२॥ विचित्रमिव चोल्लोचश्रियं चक्रुर्नभोङ्गणे । विशदाः पुण्यपिण्डाभा भव्यसेव्या जिनालयाः ॥ ३३ ॥ युग्मम्

यत्रत्यास्त्यागिनो लोकाः सदया अपि निर्दयम् । दुरापि धनदस्यापि मम तापं निरन्तरम् ॥ ३४ ॥ वित्तं येषां जिनेज्यादौ चित्तं येषां वृषेऽर्हतः । गतिं

थे। अधिक क्या कहें; कोट्टपुर नगर निवासी सब लोग धर्म-प्रवृतिमें सदैव तत्पर रहते थे ॥ ३५—३६ ॥ उस पुड्रवर्द्धनका—जिसने अपने तेजसे समस्त राजा लोगों-को वश कर लिये हैं, सन्तानके समान प्रजाको देखने वाला, राजा लोगोंके योग्य तीन शक्तिसे मंडित, काम क्रोध लोभ मोह मद प्रभृति छह अन्तरङ्ग शत्रुओंको जीतने वाला तथा उत्तम मार्गमें सदैव प्रयत्नशील पद्मधर नाम राजा था ॥ ३७—३८ ॥ उसके-दूसरी लक्ष्मीकी समान पद्मश्री नाम महिषी थी । तथा सोम-शर्म पुरोहित था ॥ ३९ ॥ वह पुरोहित विचारशील, विशुद्ध हृदय तथा वेदविद्याका ज्ञाता था और द्विज राज (ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ) होकर भी द्विजराज (चन्द्र अथवा गरुड़) न था। क्योंकि द्विज नाम नक्षत्रोंका है और नक्षत्रों का राजा चन्द्र होता है, अथवा द्विजनाम पक्षियोंका है और उनका राजा गरुड़ होता है। परन्तु यह दोनों न होकर ब्राह्मणोंमें उत्तम था। क्योंकि

येषां सुयात्रादौ श्रुतिर्येषां जिनोदिते ॥ ३५ ॥ स्तुतिर्येषां गुणिष्वेव नतिर्येषां जिनक्रमे । तत्रस्यास्तेऽखिला लोका रेजिरे धर्मवर्त्तनात् ॥ ३६ ॥ तत्र वाम्नायते भूपः ख्यातः पद्मधराभिधः । करदीकृतनिःशेषभूपालो निजतेजसा ॥ ३७ ॥ स्वप्रजावत्प्रजालोकी शक्तित्रयविराजितः । जितान्तरारिषड्वर्गो यः सन्मार्गे समुद्यमी ॥ ३८ ॥ बभूव तन्महादेवी पद्मश्रीः श्रीरिवाऽपरा । पुरोधा सोमशर्माह आसी-त्तस्य महीक्षितः ॥ ३९ ॥ विवेकी विशदस्वान्तो वेदविद्याविशारदः । न चन्द्रो द्विज-

द्विज नाम ब्राह्मणका भी है ॥ ४० ॥ सोमशर्मके— चन्द्रवदनी, विशाल लोचन वाली, स्वाभाविक अपने सौन्दर्यसे देवाङ्गनाओंको जीतने वाली तथा सूर्यकी जैसी कान्ति होती है चन्द्रमाकी जैसी चन्द्रिका होती है अग्निकी जैसी शिखा होती है उसी समान सुन्दर लक्षणोंकी धारक प्रशंसनीय सोमश्री नाम कान्ता थी ॥ ४१-४२ ॥ सोमशर्म अपनी सुन्दरीके साथ अतिशय रमण करता हुआ सुख पूर्वक कालको विता था जिसप्रकार कामदेव अपनी रतिकान्ताके साथ प्रणय पूर्वक रमण करता हुआ कालको विताता है ॥४३॥ पुण्य कर्मके उदयसे कृशोदरी सोमश्रीने—शुभनक्षत्र शुभग्रह तथा शुभलग्नमें अनेक प्रकार शुभ लक्षणोंसे युक्त तथा कामदेवके समान सुन्दर स्वरूपशालि पुत्ररत्न उत्पन्न किया, जिसप्रकार उत्तम बुद्धि ज्ञान उत्पन्न करती है। उस समय सोमशर्मने पुत्रकी खुशीमें याचक लोगोंके लिये उनकी इच्छानुसार दान दिया ॥४४—४५॥ और स्त्रियें-मधुर २ गाने लगी, नृत्यकरने

राजोऽपि न चापि गरुडो यकः ॥४०॥ सती मतल्लिका नाम्ना सोमश्रीस्तत्प्रियाऽभवत्। चन्द्रानना विशालाक्षी रूपापास्तसुराङ्गना ॥ ४१ ॥ भानोर्विभेव चन्द्रस्य चन्द्रिकेव दया यतेः। शिखा दीपस्य वा सत्या तस्याऽऽसीत्सा सुलक्षणा ॥ ४२ ॥ कामं रेरम्यमाणोऽसौ कान्तया कान्तया समम्। अनीनयत्सुखं काले प्रीत्या रत्या यथा स्मरः ॥ ४३ ॥ पुण्यात्प्रासूत सा तन्वी पुण्यलक्षणलक्षितम्। तनूजं स्मरसंकाशं सुबोधं या सती मतिः ॥ ४४ ॥ शुभे शुभग्रहे लग्ने शुभे ताततदा मुदा। वित्तं वित्राणयामास याचकेभ्यो यथेप्सितम् ॥ ४५ ॥ कामिनीकलगानोऽपत्यदुन्दुभि·

लगी, दुंदुभि बजने लगे तथा गृहों पर ध्वजायें लटकाई गईं । इत्यादि नाना प्रकारसे पुत्रका जन्म महोत्सव मनाया गया ॥४६॥ अधिक क्या कहा जाय उस पुण्यशाली सुसुतके अवतार लेनेसे सभीको आनन्द हुआ। जैसे सूर्यके उदयाद्रि पर आनेसे कमलोंको तथा चन्द्रोदयसे चकोरोंको आनन्द होता है॥४७॥ यह बालक कल्याणका करनेवाला होगा, सौम्यमूर्तिका धारक है, सरलचित्त है इसलिये बन्धुओंके द्वारा भद्रबाहु नामसे सुशोभित कियागया ॥४८॥ सो सुन्दर स्वरूप शाली भद्रबाहु शिशु स्त्रियोंके द्वारा खिलाया हुआ एक के हाथसे एकके हाथमें खेला पृथ्वीमें कभी नहिं उतरा ॥ ४९ ॥ सारे संसारको आल्हादका देने वाला शुक्ल द्वितियाका चन्द्र जैसै दिनों दिन कलाओंके द्वारा वृद्धि को प्राप्त होताहै उसीतरह आखिल जगतको आनन्द देने वाला यह बालकभी अपने गुणोंके साथही साथ प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥५०॥अपने सौभाग्य, धैर्य, गम्भीरता तथा रूप लावण्यसे

वाद्यैः । तस्य जन्मोत्सवं चक्रे केतुमालावलम्बनैः ॥ ४६ ॥ तज्जन्मतो जनाः सर्वे सुप्रमोदं प्रपेदिरे । सूर्योदयाद्दिवाऽब्जानि चकोरा वा विधूदयात् ॥ ४७ ॥ भद्रको भद्रमूर्त्तिर्बालोऽसौ भद्रमानसः । भद्रबाहुरितिख्यातिं प्रापयान्बन्धुवर्गतः ॥ ४८ ॥ सोऽर्भकः सुन्दराकारो लालितो ललिताजनैः । कदाचिन्न स्थितो मह्यां करात्करतले चरन् ॥ ४९ ॥ दिने दिने तदा बाले ववृधे सद्गुणैः समम् । कलानिधिः कलाभिर्वा जगदानन्ददायकः ॥ ५० ॥ सौभाग्यधैर्यगाम्भीर्यरूपरंजितभूतलः । क्रमात्कुमा

पृथ्वी मण्डलको मुग्ध करने वाला भद्रबाहु शिशु, कुमार-अवस्थाको प्राप्त होकर देवकुमारोंके समान शोभने लगा ॥५१॥ कला विज्ञानमें कुशल भद्रबाहु अपने समान आयुके धारक और २ कुमारोंके साथ आनन्द पूर्वक खेलता रहता था ॥५२॥ सो किसी समय यह कुमार जब अपने नगरके वाहिर और २ कुमारोंके साथ खेलता था उससमय इसने अपनी कुशलतासे एकके ऊपर एक इसतरह क्रमशः तेरह गोली चढादी और शीघ्रही उनके ऊपर चतुर्दसमी गोलीभी चढादी ॥५३॥५४॥

जिसप्रकार चन्द्रमा ताराओंसे विभूषित होताहै, उसीप्रकार मुनि मण्डलसे विराजित, अनेक प्रकार गुणोंसे युक्त, अपने उत्तम ज्ञान रूप शशिकिरण-सन्दोहसे सर्व दिशायें निर्मल करनें वाले तथा शोभायमान चारित्र रूप सुन्दर आभूषणसे शोभित श्रीगोवर्द्धनाचार्य गिरनार पर्वतमें श्रीनेमिनाथ भगवानकी यात्राकी अभिलाषासे विहार करते हुये कोट्टपुरमें आनिकले ॥ ५५ ॥ ५७ ॥

रतागाप्य रेजेऽमरकुमारवत् ॥ ५१ ॥ भद्रबाहुकुमारोऽसौ सवयोभिरमा मुदा । कलाविज्ञानपारीणो रममाणोवतिष्ठते ॥ ५२ ॥ एकदा दिव्यता तेन कुमारैर्बहुभिः समम् । दिव्यकोट्टपुरस्यान्ते स्वेच्छया वट्टकैरलम् ॥ ५३ ॥ एकैकोपरि विन्यस्ता वट्टकास्तु त्रयोदश । स्वकौशल्याद्धृतं तेषु निपपात चतुर्दश ॥ ५४ ॥ तदा गुणगणैः पूर्णो गोवर्द्धनगणाधिपः । मण्डितो मुनिमण्डल्या विधुस्तारागणैरिव ॥ ५५ ॥ विमलीकृतविश्वासः सद्बोधेन्दुकरोत्करैः । भ्राजमानस्फुरच्चारित्रचंचचारुविभूषणः ॥५६॥ चिकीर्षुर्नेमितीर्थेशयात्रां रैवतकाचले । विहरन्कापि पूतात्मा कोट्टपुरमवाप सः॥५७॥

पुरके समीप आते हुये दिगम्बर साधु—समूहको देखकर खेलते हुये वे सब बालक भयसे भाग गये ॥ ५८ ॥ उनमें केवल बुद्धिमान, शुद्धात्मा, विचारशलि तथा सन्तोषी भद्रबाहु कुमारही वहां पर ठहरा ॥ ५९ ॥ गोवर्द्धनाचार्यने—एकके ऊपर एक गोली इसीतरह ऊपर २ चतुर्दश गोली चढाते हुये उसे देखकर अपने अन्तरङ्गमें विचार किया कि—पञ्चमश्रुतकेवली निमित्त से जाना जायगा—ऐसा केवलज्ञानी श्रीवीरभगवानने कहा है सो वह महातपस्वी, महातेजस्वी, ज्ञानरूपी समुद्रका पारगामी तथा भव्य रूप कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यकी समान भद्रबाहु होगा ॥६०॥॥६२॥ सो निमित लक्षणोंसे तो यह उत्पन्न हो गया ऐसा जाना जाता है। इसप्रकार हृदयमें विचार कर कुमारसे गोवर्द्धनाचार्यने कहा-दशनश्रेणी रूप चाँदनीके प्रकाश से समस्त दिशाओंको उज्वल करने वाले हे कुमार! हे महाभाग्यशालि! यह तो कह कि तेरा नाम क्या है? तूं

तत्पुराऽभ्यर्णमायातं वीक्ष्य दिग्वाससां व्रजम् । अपीपलन्कुमारास्ते क्रीडन्तस्त्वेनतसः ॥ ५८ ॥ तेषां मध्ये सुधीरेको भद्रबाहुकुमारकः । तस्थिवांस्तत्र शुद्धात्मा विवेकी हृष्टमानसः ॥ ५९ ॥ तं कुमारं विलोक्याऽसौ गोवर्द्धनगणाधिपः । उपर्युपरि कुर्वाणं वट्टकांस्तांश्चतुर्दश ॥ ६० ॥ स्वस्वान्ते चिन्तयामास निमित्तश्रुतान्तगः । इत्युक्तं वीरदेवेन पुरा केवलचक्षुषा ॥ ६१ ॥ महातपा महातेजबोधाम्भोनिधिपारगः । भव्याम्भोरुहचण्डांशुर्भद्रबाहुर्भविष्यति ॥ ६२ ॥ निमित्तैर्लक्षणैः सोऽयं समुत्पन्नोऽवबुध्यते । इति निश्चित्य योगीन्द्रः कुमारं तं वचोऽवदत् ॥६३॥

किस कुल में समुत्पन्न हुआ है? और किसका पुत्र है? मुनिराजके उत्तम वचन सुनकर और उनके चरणोंको वारम्वार प्रणाम कर विनय पूर्वक कुमार बोला-विभो! मेरा नाम भद्रवाहु है, द्विजवंशमें मैं समुत्पन्न हुआ हूं तथा सोमश्री जननी और सोमशर्म पुरोहित मेरे पिता हैं ॥६३॥६६॥ फिर मुनिराज बोले—महाभाग! हमें अपना घरतो, बताओ। मुनिराज के बचनसे—विनयसे विनम्र मस्तक और सन्तुष्ट चित्त भद्रवाहु, स्वामीको अपने गृह पर लेगया। भद्रवाहुके माता पिता महामुनिको आते हुये देखकर अत्यन्त प्रसन्नमुख हुये; और सानन्द उठे तथा मुनिराजको भक्ति पूर्वक नमस्कार कर उनके विराजनेके लिये मनोहर सिंहासन दिया। जिसप्रकार उदयाचल पर सूर्य ठहरता है उसीतरह मुनिराज भी सिंहासन पर बैठे। इसके बाद कान्ता सहित सोमशर्मने हाथ जोड़ कर कहा—दयासिन्धो!

दन्तालिचन्द्रिकाद्योतप्रद्योतितदिगन्तरः। भो कुमार! महाभाग! किं नामा किं कुलस्त्वकम् ॥ ६४ ॥ किं पुत्रो वद वाक्यं मां निशम्येति मचोवरम्। नामं नामं गुरोः पादौ प्रोवाच प्रश्रयान्वितः ॥६५॥ भद्रवाहुरहं नाम्ना भगवन्! द्विजवंशजः। सोमश्रियां समुद्भूतः सोमशर्मपुरोधसः ॥ ६६ ॥ जगाद तं ततो योगी महाभाग! निदर्शय। तावकीनं निशान्तं मे धुत्वाऽसौ हृष्टमानसः ॥ ६७ ॥ अनीनयन्निजं गेहं विनयानतमस्तकः। तदीयौ पितरौ वीक्ष्याऽऽगच्छन्तं तं महामुनिम् ॥ ६८ ॥ प्रफुल्लवदनौ क्षिप्रं मुदा समुदतिष्ठताम्। विधाय विनयं भक्त्या प्राक्षपि वरविष्टरम् ॥ ६९ ॥ उपाविशन्मुनिस्तत्रोदयाद्रौ वा दिवाकरः। सजानिः सोमशर्माऽसौ

आज आपके चरण–सरोजके दर्शनसे मैं सनाथ हुआ। तथा आपके पधारनेसे मेरा गृह पवित्र हुआ। विभो! मुझदासके ऊपर कृपाकर किसी योग्य कार्यसे अनुग्रहीत करिये। बाद मुनिराज मधुर बचनसे बोले–भद्र! यह तुम्हारा पुत्र भद्रबाहु महाभाग्यशाली तथा समस्त विद्याका जानने वाला होगा। इसलिये इसे पढ़ानेके लिये हमे देदो। मैं बड़े आदरसे इसे सब शास्त्र बहुत जल्दी पढ़ाऊंगा। मुनिराजके बचन सुनकर कान्ता सहित सोमशर्म बहुत प्रसन्न हुआ। फिर दोनों हाथ जोड़ कर बोला–प्रभो! यह आपहीका पुत्र है इसमें मुझे आप क्या पूछते हैं। अनुग्रह कर इसे आप लेजाईये और सब शास्त्र पढ़ाईये। सोमशर्मके कहनेसे–भद्रबाहुको अपने स्थान पर लिवालेजाकर योगिराजने उसे व्याकरण, साहित्य तथा न्याय प्रभृति सब शास्त्र पढ़ाये। यद्यपि भद्रबाहु

व्याचष्टे विहिताञ्जलिः॥ ७०॥ सनाथो नाथ! जातोऽद्य त्वत्पादाम्भोजवीक्षणात्। मामकं समभूदद्य पूतं गेहं त्वदागतेः॥ ७१॥ विभो! मयि कृपां कृत्वा कृत्यं किञ्चिन्निरूप्यताम्। व्याजहार ततो योगी गिरा प्रस्पष्टमिष्टया॥ ७२॥ भवदीयाऽऽत्मनो भद्र! भद्रबाहुसमाह्वयः। भविताऽयं महाभाग्यो विश्वविद्याविशारदः ७३ ततो मे दीयतामेषो ध्यापनाय महादरात्। शास्त्राणि सकलान्येनं पाठयामि यथाऽचिरात्॥ ७४॥ गुरुव्याहारमाकर्ण्य बभाण सप्रियो द्विजः। महानन्दथुमापन्नो मुकुलीकृत्य सत्करौ॥ ७५॥ युष्माकोऽयं सुतो देव! किमत्र परिपृच्छ्यते। पाठयन्तु कृपां कृत्वा शास्त्राण्येनमनेकशः॥ ७६॥ इति तद्वाक्यतो नीत्वा कुमारं स्थानमात्मनः। शब्दसाहित्यतर्कादिशास्त्राण्यध्यापयद्दृशम्॥ ७७॥ गुरूपदेशा-

तीक्ष्ण बुद्धिशाली था तौभी गुरूके उपदेशसे उसने सर्व शास्त्र पढ़े । यह बात ठीक है कि—मनुष्य चाहे कितना भी सूक्ष्मदर्शी नेत्र वाला क्यों न हो परन्तु प्रदीपके विना वह वस्तु नहिं देख सकता। सो भद्रबाहु-गुरु रूप कर्णधारके द्वारा चलाई हुई अपनी उत्तम बुद्धि रूप नौकामें चढ़कर विनय रूप वायुवेगसे सुशास्त्र रूप समुद्रके पार होगया ॥ ६७ ॥ ॥ ७९ ॥ फिर कितने दिनों के अनन्तर प्रसन्न—मुखसरोज भद्रबाहुने कर-कमल जोड़कर गुणविराजित गुरुवरसे प्रार्थना की कि—प्रभो ! स्वामीकी कृपासे मुझे सब निर्मल विद्यायें संप्राप्त हुईं । आप जन्म देने वाले माता पिताके भी अत्यन्त उपकार करने वाले हैं । माता पिता तो जन्म जन्ममें फिर भी प्राप्त होसकते हैं किन्तु मनोभिलषित फलकी देने वाली और पूजनीय ये उत्तम विद्यायें बहुत ही दुर्लभ हैं ॥ ८० ॥ ८२ ॥ यदि आप आज्ञा देंतो मैं अपने गृह पर जाऊं ? इस प्रकार

सोऽज्ञासीच्छास्त्राणि सूक्ष्मधीरपि । सूक्ष्मेक्षणोऽपि किं दीपं विना वस्तु विलोक्यते ॥ ७८ ॥ स बुद्धिनावमारुह्य गुरुनाविकनोदिताम् । विनयानिलयोगात्स शास्त्राब्धेः पारमाप्तवान् ॥ ७९ ॥ ततो विज्ञापयामास प्रफुल्लाननमीरजः । कुड्मलीकृत्य हस्ताब्जौ गरीयांसं गुणैर्गुरुम् ॥८०॥ प्रभो ! प्रभुप्रसादेन विद्या लब्धा मयाऽमला । जन्मदेभ्योऽपि पितृभ्यो भृशं त्वमुपकारकः ॥ ८१ ॥ पितरः प्राप्तिमर्हन्त्या नूनं जन्मनि जन्मनि । अभीष्टफलदाऽभ्यर्च्या सद्विद्या दुर्लभा जनैः ॥ ८२ ॥ आज्ञा-

प्रार्थना कर और उनकी आज्ञा लेकर कृतज्ञ तथा सम्यक्त्व रूप सुन्दर भूषणसे विभूषित भद्रबाहु-गुरु महाराजके चरणोंको बारम्बार नमस्कार कर "गुरु माता के समान हितके उपदेश करने वाले होते हैं" इत्यादि उनके गुणोंका चित्तमें संचिन्तवन करता हुआ अपने मकान पर गया। यह बात ठीक है कि—जो सत्पुरुष होते हैं वे गुणानुरागी होते हैं॥ ८३॥ ८५॥ उस समय माता पिता भी अपने सुपुत्र भद्रबाहुको रूप यौवनसे युक्त तथा सुन्दर विद्याओंसे विभूषित देखकर बहुत आनन्दको प्राप्त हुये॥ ८६॥ यह बात ठीक है कि—सुवर्णकी मुद्रिकामें जड़ा हुआ मणि आनन्द को देता ही है। बाद—आनन्दित भद्रबाहुके मातपिता ने पुत्रका दोनों हाथोंसे आलिङ्गन कर परस्परमें कुशल समाचार पूछे। भद्रबाहु भी अपनी विद्याओंके द्वारा समस्त कुटुम्बको आनन्दित करता हुआ वहीं पर अपने गृहमें रहने लगा॥ ८७॥ ८८॥ किसी

ण्यदि चेद्देवत्वाहं यामि निजालयम्। निगद्येति गुरोराज्ञामादाय स कृतज्ञकः॥८३॥-नामं नामं गणाधीशपादाम्बुजयुगं मुदा। हितोपदेष्टा मातेव बालस्य नित्यशो गुरुः॥ ८४॥ इत्यादितद्गुणांश्चित्ते कुर्वन्सम्यक्त्वभूषणः। आजगाम निजागारं सन्तो हि गुणरागिणः॥ ८५॥ रूपयौवनसम्पन्नं हृद्यविद्याविभासुरम्। पितरौ स्वात्मजं वीक्ष्य परमां मुदमापतुः॥ ८६॥ नानन्दयति किं हेममुद्रिकाजटितो मणिः। पितरौ तं परिष्वज्य दोर्भ्यां सम्प्रीतचेतसौ॥ ८७॥ क्षेमादिकं मिथः पृष्ट्वा तस्थिवान्स स्वसद्मनि। विद्याविनोदैर्बन्धूनामानन्दं जनयन्भृशम्॥ ८८॥ तत्रा-

समय भद्रबाहु-संसारसरमें जिनधर्मके उद्योतकी इच्छा से-अत्यन्त गर्वरूप उन्नतपर्वतके शिखर ऊपर चढ़ेहुये, अभिमानी, अपनी कपोलरूप झाल्लरीसे उत्पन्न हुये शब्द से इच्छानुसार प्रचुर रसयुक्त महाविद्यारूप नृत्यकारिणी को नृत्य करानेवाले तथा दूसरोंसे वाद करनेमें प्रवीण ऐसे २ विद्वानोंसे विभूषित महाराज पद्मधर की सुन्दर सभामें गया ॥ ८९ ॥ ९१ ॥ पद्मधर नृपति भी समस्त विद्याओंमें विचक्षण द्विजोत्तम भद्रबाहुको आता हुआ देखकर तथा उसे अपने पुरोहितका पुत्र समझकर मनोहर आसनादिसे उसका सत्कार किया। वह भी महा-राजको आशीर्वाद देकर सभाके बीचमें बैठगया ॥९२॥ ॥९३॥ वहां पर उन मदोद्धत ब्राम्हणोंके साथ विवाद करके उदयशाली तथा विशुद्ध आत्माके धारक भद्रबाहुने-स्याद्वाद रूप खड्गसे उन सबको जीते ॥९४॥ और साथही उनके तेजको दबाकर अपने तेज-

---

सावन्यदा पद्मधरभूपतिसंसदम्। चिकीर्षुर्जिनधर्मस्योद्योतं लोके समासदत् ॥८९॥ अखर्वगर्वतुङ्गाद्रिशृङ्गारूढैर्महोद्धतैः। पण्डितैर्मण्डितां रम्यां वादविद्याविशारदैः ॥ ९० ॥ स्वगल्लझल्लरीजृम्भन्निनादेन निजेच्छया। नर्तयद्भिर्महाविद्यानटीमुरुरसा-न्विताम् ॥ ९१ ॥ भद्रबाहुमहाभट्टं दृष्ट्वाऽऽयातं विशांपतिः। पुरोधसः सुतं ज्ञात्वा विश्वविद्याविचक्षणम् ॥ ९२ ॥ बहु संमानयामास मनोज्ञैरासनादिभिः। दत्वाऽऽशीर्वचनं सोऽपि मध्येसममुपाविशत् ॥ ९३ ॥ कुर्वन्नथ महावादं समं विप्रैर्मदोद्धतैः। स्याद्वादकरवालेन सकलांस्तानजीजयत् ॥ ९४ ॥ विधूय वादिनां

को प्रकाशित किया जैसे चन्द्रादिके तेजको दबाकर सूर्य अपना तेज प्रकाशित करता है ॥९५॥ बुद्धिमान भद्रबाहुने अपनी विद्याके प्रभावसे सभामें बैठे हुये समस्त राजादिको प्रतिबोधित करके जैनमार्गकी अत्यन्त प्रभावनाकी ॥ ९६ ॥ भद्रबाहुके इसप्रकार प्रभावको देख कर राजाने जिनधर्मको ग्रहण किया और सन्तुष्टचित्त होकर उसके लिये—वस्त्राभूषण पूर्वक बहुत धन दिया ॥९७॥ बाद-वहांसे भद्रबाहु अपने गृहपर आया। न कोई ऐसा वाग्मी है, न कोई वादी है, न कोई शास्त्रका जानने वाला है, न कोई ज्ञानवान है तथा न कोई ऐसा विनय शाली है, इसप्रकार बुद्धिमानोंके द्वारा प्रसिद्धिको प्राप्त हुये बुद्धिशाली भद्रबाहुने एकदिन अपने मातपितासे विनय पूर्वक कहा—॥ ९८ ॥ ९९ ॥ तात ! मैं संसार भ्रमणसे बहुत डरताहूं। इसलिये इससमय तपग्रहण करनेकी इच्छा है। यदि प्रीतिपूर्वक आज्ञा देतो सुख प्राप्तिके अर्थ तप ग्रहण करूं ॥१००॥ इसप्रकार पुत्रके

तेजो निजमाविश्चकार सः। महोदयो विशुद्धात्मा चन्द्रादीनां यथा रविः॥९५॥ प्रतिबोध्य महीपादींस्तत्र जैनप्रभावनाम् । अकार्षीन्नितरां धीमानात्मविद्याप्रभावतः ॥ ९६ ॥ गृहीतजिनमार्गेण भूभुजा तुष्टचेतसा । दत्तं बहुधनं तस्मै क्षौमाभरणपूर्वकम् ॥९७॥ ततः स्वावासमापाऽसौ नेदृग्वाग्मी कविर्भुवि। वादी चागमकः कोऽपि विज्ञानी विनयी परः ॥ ९८ ॥ इत्थं संवर्णितः ख्यातिं परामाप बुधोत्तमैः । एकदा पितरौ प्रोचे प्रश्रयात्सङ्गिरा सुधीः ॥ ९९ ॥ भवभ्रमणभीतोऽहं संजिघृक्षुस्तपोऽधुना । आज्ञापयन्ति चेत्प्रीत्या तर्हि गृह्णामि शर्मणे ॥१००॥ भाषितं भाषितं ताभ्यां श्रुत्वेषद्दुः-

दुःखकारी वचनोंको सुनकर मातापिताने कहा—पुत्र ! इस प्रकार निष्ठुर वचन तुम्हें कहना योग्य नहीं ! ॥१०१॥ प्यारे ! अभी तुम समझते नहीं अरे ! कहाँ यह केलेके गर्भ समान अतिशय कोमल शरीर ? और कहाँ अच्छे २ सत्पुरुषोंके लियेभी दुर्लभ असह्य व्रतका ग्रहण ? ॥१०२॥ अभीतो बिल्कुल तुम्हारी बाल्यावस्था है इसमें तो पञ्चेन्द्रियसमुत्पन्न सुखोंका अनुभव करना चाहिये । इसकेबाद वृद्धावस्थामें तपग्रहण करना ॥१०३॥ मातापिताके वचनोंको सुनकर सरल—हृदय भद्रबाहु बोला—तात ! आपने कहा सो ठीकहै परन्तु व्रतधारण किये बिना यह मानवजीवन निष्फल है, जैसै सुगन्धके बिना पुष्प निष्फल समझा जाता है॥१०४॥देखो !—मोही पुरुषोंके देहको ग्रहण करनेके लिये एक ओर तो मृत्यु तयार है और एक ओर वृद्धावस्था तयार है तो ऐसे शरीरमें सत्पुरुषोंको क्या आशा होसकतीहै?॥१०५॥और फिर जब जरासे जर्जरित तथा तृष्णाके स्थान इस शरीरमें वृद्धा-

---

यदं तुजः । पुत्रेदं ते वचो वक्तुं न युक्तं निष्ठुरं कदु ॥ १०१ ॥ क्व पुत्र ! वपुस्ते ऽयं कदलीगर्भवन्मृदु । क्वाऽयं व्रतग्रहोऽसह्यो महतामपि दुर्द्धरः ॥ १०२ ॥ भुंक्ष्वाऽधुना सुखं बाल्ये पञ्चेन्द्रियसमुद्भवम् । ग्रहणीयं ततः सूनो ! वार्द्धक्ये विमलं तपः॥१०३॥ वचस्तदीयमाकर्ण्याभवींत्तातं सदाशयः । व्रतहीनं वृथा तात ! नार्यं निर्गन्धपुष्पवत् ॥ १०४ ॥ एकतो ग्रसते मृत्युरेकतो ग्रसते जरा । मोहिनां देहिनां देहं काऽऽस्था तत्र महात्मनाम् ॥ १०५ ॥ वार्द्धक्येऽयं । पुनः ग्रासे जराजर्जरितादृके । तात !

वस्था अपना अधिकार जमा लेगी तब तप तथा व्रत कहाँ? दूसरे ये भोग पहले तो कुछ सुन्दरसे मालूम पड़ते हैं परन्तु वास्तवमें—सर्पके शरीर समान दुःखके देनेवाले हैं, सन्तापके करने वालेहैं और परिपाकमें अत्यन्त दुःख के देनेवाले हैं ॥१०७॥ कुगति रूप खारेजलसे भरे हुये तथा पीड़ारूप मकरादि जन्तुओंसे कूलंकष इस असार संसार समुद्रमें जीवोंको एक धर्मही शरण है॥१०८॥देखो! मोही पुरुष इन भोगोंमें व्यर्थ ही मोह करते हैं किन्तु जो बुद्धिमान हैं वे कभी मोह नहीं करते इसलिये क्यों मोक्षका साधन संयम ग्रहण करूं?॥१०९॥ इत्यादि नाना प्रकारके उत्तम २ बचनोंसे वैराग्यहृदय भद्रबाहुने अत्यन्त मोहके कारण अपने मातापितादि समस्त बन्धुओंको समझाया । और उसके बाद—मातापिता की आज्ञासे—संयमके ग्रहण करनेकी अभिलाषासे गोवर्द्धनाचार्यके पासगया॥११०॥१११॥और उन्हें नमस्कार

तृष्णास्पदे तत्र क्व तपो क्व जपो व्रतम् ॥ १०६ ॥ भोगास्तु भोगिभोगाभा दुःखदाःस्तापकारकाः । आपातमधुराकारा विपाके तीव्रदुःखदाः ॥१०७॥ संसारसागरेऽसार कुगतिक्षारजीवने । यातनानक्रसंकीर्णे शरण्यं धर्ममङ्गिनाम् ॥ १०८ ॥ मोमुहीति वृथा मूढो न चैतेषु विचक्षणः । ततोऽहं कं ग्रहीष्यामि संयमं शिवसाधनम् ॥१०९॥ इत्यादिविविधैर्वाक्यैर्भद्रोऽसौ समबूबुधत् । पित्रादीनखिलान्बन्धून्महामोहनिबन्धनान् ॥ ११० ॥ ततो निदेशतस्तेषां निर्वेदाहितमानसः । अयासीत्संयमं लिप्सुर्गोवर्द्धनगणाधिपम् ॥ १११ ॥ प्रणम्य प्रश्रयात्प्रोचे सुधीस्तं विहिताञ्जलिः । देहि

कर विनयपूर्वक हाथजोड़कर बोला—स्वामी ! कर्मोंके नाश करनेवाली पवित्र दीक्षा मुझे देओ ॥११२॥ भद्र-बाहुके वचनोंको सुनकर गोवर्द्धनाचार्य बोले—वत्स ! संयमके द्वारा अपने मानवजीवनको सफल करो ! गुरूकी आज्ञासे भद्रबाहुभी आत्माके दुःखका कारण बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्यागकर हर्षके साथ दीक्षित होगये ॥११३॥११४॥ निर्दोष तथा श्रेष्ठवृतोंसे मण्डित कान्तिशाली, संसारके वन्धु तथा दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) साधुओंके मार्गमें स्थित भद्रबाहु—सूर्यके समान शोभने लगे । क्योंकि सूर्यभीतो रात्रिसे रहित तथा वर्तुलाकार होता है, तेजस्वी होता है, सारे संसारका वन्धु (प्रकाशक) होता है तथा गगनमार्गमें गमन करता रहता है ॥१५॥ मुनियोंके मूलगुण रूप मनोहर मणिमयहार-लतासे विभूषित तथा दयाके धारक भद्रबाहु मुनि जीवोंके प्रिय तथा हितरूप वचन बोलते थे ॥१६॥ प्रतिज्ञाओंके ग्रहण पूर्वक दुर्निवार कामरूपहाथीको ब्रह्मचर्यरूप वृक्षमें बाँधने वाले, परिग्रहमें ममत्व परिणामका छेदन करने

देवामलां दीक्षां कर्ममर्मनिवर्हणाम् ॥ ११२ ॥ तद्वाक्याकर्णनाद्योगी यमीपे भाषितं परम् । विधेहि वत्स ! साफल्यं संयमेनात्मजन्मनः ॥ ११३ ॥ गुरोरनुमतात्सोऽपि प्राब्राजीत्परया मुदा । हित्वा सङ्गं द्विधा धीरो देहदुःखनिबन्धनम् ॥११४॥ निर्दोष-वरवृत्ताढ्यो भासुरो लोकबान्धवः । निरम्बरपथस्थोऽपि रेजेऽसौ रविबिम्बवत् ॥११५॥ मुनिमूलगुणोदारमणिहारविराजितः । दयादारधाम्नाद्यो प्रियपथ्यवचोऽवदत्॥११६॥

वाले, रात्रि आहारके त्यागी, अपने आत्मस्वरूपका जानने वाले, शास्त्रानुसार गमन आलाप भोजनादि करने वाले, यथाविधि आदान निक्षेपणादि समितियोंमें अतिचार न लगाने वाले, इन्द्रिय रूप अश्वको आत्माधीन करनेवाले, छह आवश्यककर्मके पालक, वस्त्रत्याग, लोच, पृथ्वीपर शयन, स्नान, खड़े होकर भोजन, दन्तका न धोना तथा एकभुक्त आदि परीषहके जीतनेवाले, समस्त संघको आनन्दित करने वाले तथा अत्यन्त विनयी बुद्धिमान भद्रबाहुमुनिने अपने गुरूके अनुग्रहसे द्वादशाङ्ग शास्त्र पढ़े॥ ११७॥१२१॥ फिर अपनेमें श्रुतज्ञानकी पूर्णता हुई समझ कर भद्रबाहु-जब श्रुतज्ञानकी भक्तिसे कायोत्सर्ग धारणकर स्थित थे उससमय प्रातःकालमें समस्तदेव तथा मनुष्यों ने आकर भद्रबाहु महामुनिकी अत्यन्त भक्ति पूर्वक हर्षके साथ पूजनकी॥१२२॥१२३॥ अपने गांभीर्यसे समुद्रको

गृह्णन् व्रतोपयोगीनि शीलशाले नियन्त्रयन्। दुर्वारमारमातङ्गं मूर्छां छिन्दन्परिग्रहे ॥ ११७ ॥ क्षेपयन्क्षणदाहारं स्वस्वरूपाहिताशयः। सूत्रोक्तगमनालापाशनं कुर्वन्विशुद्धधीः ॥ ११८ ॥ यथोक्तादाननिक्षेपमलाद्युज्झनमाश्रयन्। जितपञ्चाक्षदुर्वाजी षडावश्यकमाधदत् ॥ ११९ ॥ विचेललोचभूशय्यास्थानेषु स्थितिभोजने। अदन्तधावने चैकभक्ते जितपरीषहः ॥ १२० ॥ गुरोरनुग्रहाद्धीमान् द्वादशाङ्गमपीपठत् मोदयन्सकलं सङ्घं वहन्विनयमुल्बणम् ॥१२१ ॥

पञ्चभिः कुलकम्.

श्रुतसंपूर्णतामाप्तामिति संचिन्त्य भद्रदोः। श्रुतभक्त्या समादाय कायोत्सर्गस्थितः प्रगे ॥१२२॥ तदा सुरनराः सर्वे समभ्येत्यातिभक्तितः। चक्रुः पूजां प्रमोदेन भद्रबाहुमहामुनेः ॥ १२३ ॥ गाम्भीर्येण जिताम्भोधिः कान्त्या निर्जितशीतगुः।

जीतने वाला, कान्तिसे चन्द्रमाको लज्जित करने वाला, तेजके द्वारा सूर्यको जीतने वाला तथा धैर्यसे सुमेरु पर्वत को नीचा करने वाला इत्यादि गुणमणिमाला रूप भूषणसे विभूषित तथा सम्पूर्ण जगतको आनन्दका देने वाला भद्रबाहु अत्यन्त शोभने लगा॥१२४॥१२५॥

फिर कुछदिनों बाद—गोवर्द्धनाचार्यने भद्रबाहुको गुणरत्नका समुद्र समझकर अपने आचार्य पदमें नियोजित किया। भद्रबाहु भी अपने कान्तिसमूहको प्रकाशित करता हुआ तथा महामोह रूप अन्धकारका नाश करता हुआ गोवर्द्धन गुरुके पदमें ऐसा शोभनेलगा जैसा उदयाचल पर्वत पर सूर्य शोभता है। क्योंकि—सूर्यभीतो जब उदयपर्वत पर आता है उससमय अपने कान्तिसमूहको भासुर करता है तथा अन्धकारका नाश करता है॥१२६॥१२७॥

यह ठीक है कि—पुण्यकर्मके उदयसे जीवोंका अच्छे उत्तम वंशमें जन्म होताहै, उत्कृष्ट शरीर संप्राप्त

तेजसा जितसप्ताश्वो धैर्येण जितमन्दरः ॥ १२४ ॥ इत्यादिगुणमाणिक्यकलालङ्कारभासुरः। निःशेषजगदानन्ददायकः सूरिराबभौ ॥ १२५ ॥ गोवर्द्धनो गणी ज्ञात्वा समग्रगुणसागरम्। स्वपदे योजयामास भद्रबाहुं गणाधिपे ॥ १२६ ॥ भासयन्निज-भाभारं महामोहतमो हरन्। शुशुभेऽसौ गुरोः स्थाने हेलिर्वा पूर्वभूधरे ॥ १२७ ॥

विख्यातो ह्यत्रवंशे जननमनुगुणं देहिनां देहरूपं
प्रज्ञा विज्ञानशक्तिर्गुणगुरुगुरुताधार्मिकेऽङ्गनिभाङ्गः।

होताहै, मनोहर तथा अनवद्य विद्यायें प्राप्त होती हैं, गुणोंसे विशिष्ट गुरुओंके चरणकमलमें अत्यन्त भक्ति होती है, गँभीरता उदारता तथा धैर्यादि गुणोंकी उपलब्धि होती है, उत्तम चारित्र होता है, प्रभुत्वता होती है, जैनधर्ममें श्रद्धा (आस्था) होती है तथा चन्द्रमाके समान निर्मल अनन्तकीर्त्ति प्राप्त होती है ॥१२८॥

निर्मल ज्ञानरूप क्षीरसमुद्रकी वृद्धिके लिये चन्द्रमाँ, श्रीगोवर्द्धन गुरुके चरण रूप उदयाचल पर्वतके लिये सूर्य, मनोहर कीर्त्तिके धारक, उत्तम २ गुणोंके आलय तथा मुनियोंके स्वामी श्रीभद्रबाहु मुनिराजका आपलोग सेवन करें ॥१२९॥

इति श्रीरत्नकीर्त्ति आचार्यके बनाये हुये भद्रबाहु चरित्रके
अभिनव हिन्दीभाषानुवादमें भद्रबाहुके दीक्षाका
वर्णनवाला प्रथम-परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१॥

गाम्भीर्यौदार्यधैर्यप्रभृतिगुणगुणो वर्यवृत्तं प्रभुत्वं
श्रद्धा श्रीजैनमार्गे शशिकरविशदाऽनन्तकीर्त्तिः सुपुण्यात् ॥१२८॥

विमलबोधसुधाम्बुधिचन्द्रकं
गुरुपदोदयभूधरभास्करम् ।
ललितकीर्त्तिमुदारगुणालयं
भजत भद्रभुजं मुनिनायकम् ॥ १२९ ॥

इति श्रीभद्रबाहुचरित्रे आचार्यश्रीरत्ननन्दिविरचिते
भद्रबाहुदीक्षावर्णनो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

ॐ

द्वितीय परिच्छेद ।

पश्चात् श्रीगोवर्द्धनाचार्य—नानाप्रकार तपश्चरण कर अन्तमें चार प्रकार आहारके परित्याग पूर्वक चार प्रकारकी आराधनाओंके आराधनमें तत्परहुये और समाधि पूर्वक शरीरको छोड़कर देव तथा देवाङ्गनाओंसे युक्त और उत्कृष्ट सम्पत्ति शाली स्वर्गमें जाकर देव हुये ॥१॥२॥ उधर श्रीभद्रबाहु आचार्य—अपने समस्त संघका पालन करते हुये भव्य मनुष्योंको सन्तुष्ट करते हुये तथा दूसरे मतोंको बाधित ठहराते हुये शोभते थे ॥३॥ तथा पृथ्वी मण्डलमें आनन्द बढ़ाते हुये और धर्मामृत वर्षाते हुये श्रीभद्रबाहु मुनिराज—ताराओंके समूहसे युक्त जैसा चन्द्रमा गगनमण्डलमें विहरता रहता है उसीतरह पृथ्वीवलयमें विहार करने लगे ॥४॥

ॐ

द्वितीयः परिच्छेदः ।

गणी गोवर्द्धनस्तत्र विधाय विविधं तपः । प्रान्ते प्रायं समादाय चतुर्धाराधनारतः ॥ १ ॥ समाधिनासूनुत्सृज्य प्रपेदे त्रिदशास्पदम् । देवदेवीगणैर्जुष्टं युक्तं परमसम्पदा ॥ २ ॥ ततो गणाधिपो भद्रः पोषयन्सकलं गणम् । तोषयन्निखिलान्भव्यान्दूषयन्दुर्मतं बभौ ॥ ३ ॥ कुर्वन्कुवलयानन्दं किरन्धर्मामृतं भुवि । मुनितारागणाकीर्णः शशीव विजहार सः ॥ ४ ॥ अवन्तीविषयेऽथाय विजिताखिलमण्डले ।

विवेक विनय धनधान्यादि सम्पदाओंसे समस्तदेश को जीतने वाले अवन्ती नामक देशमें प्राकारसे युक्त (वेष्टित) तथा श्रीजिनमन्दिर, गृहस्थ मुनि उतम धर्मसे विभूषित उज्जयिनी नाम पुरी है ॥५॥६॥ उसमें—चन्द्रमाके समान निर्मल कीर्त्तिका धारक, चन्द्रमाके समान आनन्द का देनेवाला, सुन्दर २ गुणोंसे विराजमान, ज्ञान तथा कला कौशलमें सुचतुर, जिन पूजन करनेमें इन्द्र समान, चार प्रकार दान देनेमें समर्थ, तथा अपने प्रतापसे सूर्यको पराजित करने वाला चन्द्रगुप्ति नाम राजा था ॥७॥८॥ उसके—चन्द्रमाँकी ज्योत्स्नाके समान प्रशंसनीय तथा रूप लावण्यादि गुणोंसे शोभायमान चन्द्रश्री नाम रानी थी ॥९॥

किसीसमय महाराज चन्द्रगुप्ति—सुखनिद्रामें वात पित्त कफादि रहित (नीरोग अवस्थामें) सोये हुये थे। उस समय रात्रिके पिछले पहरमें—आश्चर्यजनक नीचे लिखे हुये सोलह खोटे स्वप्न देखे। वे ये हैं—कल्पवृक्ष की

विवेकविनयानेकधनधान्यादिसम्पदा ॥५॥ अभादुज्जयिनी नाम्ना पुरी प्राकारवेष्टिता। श्रीजिनागारसागारमुनिसद्धर्ममण्डिता ॥६॥ चन्द्रावदातसत्कीर्त्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृणाम्। चन्द्रगुप्तिर्नृपस्तत्राऽचकचारुगुणोदयः ॥७॥ ज्ञानविज्ञानपारीणो जिनपूजापुरंदरः। चतुर्धा दानदक्षो यः प्रतापजितभास्करः ॥८॥ चन्द्रश्रीर्भामिनी तस्य चन्द्रमःश्रीरिवापरा। सती मतल्लिका जाता रूपादिगुणशालिनी ॥९॥ एकदाऽसौ विशांनाथः प्रसुप्तः सुखनिद्रया। निशायाः पश्चिमे यामे वातपित्तकफातिगः ॥१०॥ इमान्

शाखाका टूटना (१) सूर्यका अस्त होना (२) चालनीके समान छिद्र सहित चन्द्रमण्डलका उदय (३) बारह फणवाला सर्प (४) पीछे लौटा हुआ देवताओंका मनोहर विमान (५) अपवित्र स्थान पर उत्पन्न हुआ विकसित कमल (६) नृत्य करता हुआ भूतोंका परिकर (७) खद्योतका प्रकाश (८) अन्तमें थोड़ेसे जलका भरा हुआ तथा बीचमें सूखा हुआ सरोवर (९) सुवर्णके भाजनमें श्वानका खीर खाना (१०) हाथीपर चढ़ा हुआ बन्दर (११) समुद्र का मर्याद छोड़ना (१२) छोटे २ बच्चोंसे धारण किया हुआ और बहुत भारसे युक्त रथ (१३) ऊंट पर चढ़ा हुआ तथा धूलिसे आच्छादित राजपुत्र (१४) देदीप्यमान कान्तियुक्त रत्नराशि (१५) तथा काले हाथियोंका युद्ध (१६) इन स्वप्नोंके देखनेसे चन्द्रगुप्तिको बहुत आश्चर्य हुआ। और किसी योगिराजसे इनके शुभ तथा अशुभ फलके पूछनेकी अभिलाषाकी ॥१०—१७॥

षोडश दुःस्वप्नान् ददर्शाऽऽश्चर्यकारकान् । कल्पपादपशाखायाः भङ्गमस्तमनं रवेः॥११॥ तृतीयं तितउप्रख्यमुद्यन्तं विधुमण्डलम् । तुरीयं फणिनं स्वप्ने फणद्वादशमण्डितम्॥१२॥ विमानं नाकिनां कम्रं व्याघुटन्तं विभासुरं । कमलं तु कचारस्थं नृत्यन्तं भूतवृन्दकम् ॥ १३ ॥ खद्योतोद्योतमद्राक्षीत्प्रान्ते तुच्छजलं सरः । मध्ये शुष्कं हेमपात्रे पुनः क्षीरान्नभक्षणम् ॥ १४ ॥ शाखामृगं गजारूढमब्धिं फुल्लसांगनम् । शावसातं तथा वत्सैर्भूरिभारभृतं रथम् ॥१५॥ राजपुत्रं मयास्थं रजसा पिहितं पुनः । रत्नराशिं ज्वलत्कान्तिं युद्धं चासितदन्तिनोः ॥ १६ ॥ स्वप्नानिमान्विलोक्याऽसावभूद्विस्मितमानसः । पिपृच्छुर्योगिनं कञ्चित्फलं तेषां शुभाशुभम् ॥ १७ ॥

उधर शुद्ध हृदय भद्रबाहु आचार्य--अनेक देशोंमें विहार करते हुये बारह हजार मुनियोंको साथ लेकर भव्य पुरुषोंके शुभोदयसे उज्जयिनीमें आये और पुर बाहिर उपवनमें जन्तु रहित स्थानमें ठहरे ॥१८॥१९॥ साधुके महात्म्यसे वन--फल पुष्पादिसे बहुत समृद्ध होगया। वनपाल--मुनिराजका प्रभाव समझकर वनमेंसे नाना प्रकार फल पुष्पादि लेकर महाराजके पास गया और उनके आगे रखकर सविनय मधुरतासे बोला---देव! आपके पुण्यकर्मके उदयसे मुनिसमूहसे विराजमान श्रीभद्रबाहु महर्षि उपवनमें आये हुये हैं। वनपालके वचन सुनकर महाराज चन्द्रगुप्ति अत्यन्त आनन्दित हुये। जैसे मेघके गर्जितसे मयूर आनन्दित होता है। उससमय राजाने वनपालके लिये बहुत धन दिया और मुनिराजके अभिवन्दनकी उत्कण्ठासे नगर भरमें आनन्द भेरी दिलवाकर गीत नृत्य वादित्र

अथाऽसौ विविधान्देशान्विहरन् गणनायकः। द्विद्वादशसहस्रेण मुनिभिः संयुतः शुभात् ॥१८॥ विशालपुरमायातस्तस्थिवान्भव्यपुण्यतः। तत्र निर्जन्तुकस्थाने बाह्योद्याने शुभाशयः ॥ १८ ॥ फलितं तत्प्रभावेन वनं नानाफलोत्करैः। वनपालस्ततो ज्ञात्वा तन्महात्म्यं महामुनेः ॥ १९ ॥ फलादिकं ततो लात्वा जगाम नृपसन्निधिम्। शुभादिकं पुरस्कृत्य जगाद वचनं वरम् ॥ २० ॥ राजंस्त्वदीयपुण्येन भद्रबाहुर्गणाग्रणीः। आजगाम त्वदुद्याने मुनिसन्दोहसंयुतः ॥ २१ ॥ समाकर्ण्य वचस्तस्य चन्द्रगुप्तिर्विशांपतिः। परमामुदमापन्नः शिखीव घननिस्वनं ॥ २२ ॥ बहु वित्तं ददौ तस्मै चिकीर्षुर्गणिवन्दनाम्। आनन्दभेरिकां रम्यां दापयित्वा नराधिपः ॥ २३ ॥ गीतनर्तनसूर्यौघैः समन्ताद्विष्टपैर्युतः। निर्जगाम महाभूत्या वन्दितुं संयताधिपम् ॥२४॥

तथा सामन्तादि सहित महाविभूति पूर्वक नगरसे बाहिर निकले ॥२०--२५॥ और आचार्य महाराजके पास जाकर विनय भावसे उनकी प्रदक्षिणाकी तथा जलगन्धादि द्रव्योंसे उनके चरणोंकी पूजन की । पश्चात् क्रमसे और २ मुनियोंकी भी अभिवन्दना स्तुति तथा पूजनादि करके उनके मुखारविंदसे सप्ततत्व गर्भित धर्मका स्वरूप सुना । उसकेबाद--मौलिविभूषित मस्तकसे भक्ति पूर्वक प्रणाम कर और दोनों करकमलोंको जोड़कर भद्रबाहु श्रुतकेवलीसे पूछा । नाथ ! मैंने रात्रिके पिछले प्रहरमें कल्पद्रुमकी शाखाका भंग होना प्रभृति सोलह स्वप्न देखे हैं । उनका आप फल कहें । राजाके वचन सुनकर--दांतोंकी किरणोंसे सारे दिशा मण्डलको प्रकाशित करनेवाले योगिराज भद्रबाहु बोले-राजन् ! मैं स्वप्नोंका फल कहता हूँ उसे तुम स्वस्थ चित्त होकर सुनो । क्योंकि इनका फल--पुरुषोंको वैराग्यका उत्पन्न करने वाला तथा आगामी खोटे कालका

समासाद्य च सूरीशं परीत्य प्रश्रयान्वितः । समभ्यर्च्य गुरोः पादावर्च्याम्भस्सदक्षादिकैः ॥ २६ ॥ प्रणनाम महाभक्त्या क्रमादन्यमुनीनपि । सप्ततत्वान्वितं धर्ममधीधीद्गुरुवाक्यतः ॥ २७ ॥ ततोऽतिभक्तितो नत्वा मौलिमण्डितमौलिना । मुकुलीकृतहस्ताब्जः पप्रच्छेति श्रुतेक्षणम् ॥ २८ ॥ निशायामद्य मद्राक्षं स्वप्नान्षोडशानिमान् । सुरद्रुशाखाभङ्गादींस्तत्फलं कथयेश । माम् ॥ २९ ॥ निशम्य भणितं भूपं यथाव भाषितं स्वनम् दंताद्युतितादीपदिक्चक्रं योगिनायकः ॥ ३० ॥ प्रणिधाय मनो

सूचन करने वाला है। सबसे पहले जो रविका अस्त होना देखा गया है—सो उससे इस अशुभ पञ्चम कालमें एकादशाङ्ग पूर्वादि श्रुतज्ञान न्यून हो जायगा। (१) कल्पवृक्षकी शाखाका भंग देखनेसे अब आगे कोई राजा जिन भगवानके कहे हुये संयमका ग्रहण नहिं करेंगे (२) चन्द्रमण्डलका बहुत छिद्रयुक्त देखना पञ्चम कलिकालमें जिनमतमें अनेक मतोंका प्रादुर्भाव कहताहै (३) बारह फणयुक्त सर्पराजके देखनेसे बारह वर्ष पर्यन्त अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष पड़ैगा (४) देवताओंके विमानको उल्टा जाता हुआ देखनेसे पञ्चमकालमें देवता विद्याधर तथा चारणमुनि नहिं आवेंगे (५) खोटे स्थानमें कमल उत्पन्न हुआ जो देखा है उससे बहुधा हीन जातिके लोग जिन धर्म धारण करेंगे किन्तु क्षत्रिय आदि उत्तमकुल संभूत मनुष्य नहिं करेंगे (६) आश्चर्य जनक जो

राजन्समाकर्णय तत्फलम् । निर्वेदजनकं पुंसां भाव्यसत्कालसूचकम् ॥ ३१ ॥
रवेरस्तमालोकात्कालेऽत्र पञ्चमेऽशुभे। एकादशाङ्गपूर्वादिश्रुतं हीनत्वमेष्यति ॥ ३२ ॥
सुरद्रुमलताभङ्गदर्शनाद्भूप ! भूपतिः नातोऽग्रे संयमं कोपि ग्रहीष्यति जिनोदितम्॥३३॥
बहुरन्ध्रान्वितस्येन्दोर्मण्डलालोकनादिह। मतभेदा भविष्यन्ति बहवः जिनशासने॥३४॥
द्वादशोरुफणाटोपमण्डितोरगवीक्षणात्। द्वादशाब्दमितं रौद्रं दुर्भिक्षं तु भविष्यति॥३५॥
व्याघुटमानं गीर्वाणविमानं वीक्षितं ततः । कालेऽस्मिन्नाऽऽगमिष्यन्ति सुरखेचर-चारणाः ॥३६॥ कचारेम्बुजमुत्पन्नं दृष्टं प्रायेण तेन वै। जिनधर्मं विधास्यन्ति हीना न क्षत्रियादयः ॥ ३७ ॥ भूतानां नर्तनं राजन्नक्षोरवन्नुतं ततः । नीचदेवरतामूढा

भूतोंका नृत्य देखा है उससे मालूम होता है कि मनुष्य नीचे देवोंमें अधिक श्रद्धाके धारक होंगे । (७) खद्योतका उद्योत देखनेसे–जिन सूत्रके उपदेश करने वाले भी मनुष्य मिथ्यात्व करके युक्त होंगे और जिन धर्म भी कहीं २ रहेगा । (८) जल रहित तथा कहीं थोड़े जलसे भरे हुये सरोवरके देखनेसे– जहाँ तीर्थंकर भगवानके कल्याणादि हुये हैं ऐसे तीर्थ-स्थानोंमें कामदेवके मदका छेदन करने वाला उत्तम जिनधर्म नाशको प्राप्त होगा । तथा कहीं दक्षिणादि देशमें कुछ रहेगा भी (९) सुवर्णके भाजनमें कुत्तेने जो खीर खाई है उससे मालूम होता है कि–लक्ष्मीका प्रायः नीच पुरुष उपभोग करेंगे और कुलीन पुरुषोंको दुष्प्राप्य होगी । (१०) ऊंचे हाथी पर बन्दर बैठा हुआ देखनेसे नीच कुलमें पैदा होने वाले लोग राज्य करेंगे क्षत्रिय लोग राज्य रहित होंगे । (११) मर्यादाका

भविष्यन्तीह मानवाः ॥ ३८ ॥ खद्योतद्योतनाल्लोका जिनसूत्रोपदेशकाः । मिथ्यात्व-बहुलास्तुच्छा जिनधर्मोऽपि क्वचित्तत ॥ ३९ ॥ सरसा पद्मा रिक्तैर्नातितुच्छजलेन च । जिनजन्मादिकल्याणक्षेत्रे तीर्थत्वमाश्रिते ॥ ४० ॥ नाशमेष्यति सद्धर्मो मारदर्पच्छद-च्छिदः । स्थास्यतीह क्वचित्प्रान्ते किंचिद् दक्षिणादिके ॥ ४१ ॥

युग्मम्.

स्वर्णमये पात्रे श्वपक्षीरभक्षणात् । भोक्ष्यन्ति प्राकृताः पद्मां कुलीनानां दुरा-पया ॥ ४२ ॥ तुङ्गमातङ्गमारूढशाखामृगनिरीक्षणात् । राज्यं हीना विधास्यन्ति कुकुला न च बाहुजाः ॥ ४३ ॥ मर्यादालंघनतः सिन्धोर्लप्स्यन्ति नरन्तो क्षितिम् ।

उल्लंघन किये हुये समुद्रके देखनेसे प्रजाकी समस्त लक्ष्मी राजा लोग ग्रहण करेंगे तथा न्यायमार्गके उल्लंघन करनेवाले होंगे। (१२) बछड़ा से वहन किये हुये रथके देखनेसे बहुधा करके लोगं तारुण्य अवस्थामें संयम ग्रहण करेंगे किन्तु शक्तिके घटजानेसे वृद्धा अवस्थामें धारण नहीं कर सकेगें। (१३) ऊंट पर चढ़े हुये राजपुत्रके देखनेसे ज्ञात होताहै कि—राजालोग निर्मल धर्म छोड़कर हिंसा मार्ग स्वीकार करेंगे। (१४) धूलिसे आच्छादित रत्नराशिके देखनेसे—निर्ग्रन्थमुनि भी परस्परमें निन्दा करने लगेंगे। (१५) तथा काले हाथियोंका युद्ध देखनेसे मेघ मनोभिलषित नहिं वर्षेंगे। (१६) राजन् ! इसप्रकार स्वप्नोंका जैसा फल है वैसा मैंने तुमसे कहा। राजा भी स्वप्नोंका फल सुनकर संसारसे भयभीत हुआ और मनमें विचारने लगा॥ १६—४९ ॥

अहो ! विपत्ति रूप घातक दुष्टजीवोंसे ओतप्रोत भरे हुये तथा कालरूपी अग्निसे महा भयंकर इस असार

जनानां च भविष्यन्ति भूमिपा न्यायलङ्घकाः ॥ ४४ ॥ वत्सैरूढरथेक्षणादारणात्रोका-ऽसंयमम् । तारुण्ये चाचरिष्यन्ति वार्धक्ये नाल्पशक्तितः ॥ ४५ ॥ क्रमेलक-समारूढराजपुत्रस्य वीक्षणात् । हिंसाविधिं विधास्यन्ति धर्मं हित्वाऽमलं नृपाः ॥ ४६ ॥ रजसाऽऽच्छादितरत्नराशेर्वीक्षणतो भृशम् । करिष्यन्ति नपाः स्तेया निर्ग्रन्थमुनयो मिथः ॥ ४७ ॥ मत्तमातङ्गयोर्युद्धवीक्षणात्कृष्णयोरिह । मनोभिल-षितां वृष्टिं न विधास्यन्ति वारिदाः ॥ ४८ ॥ इति स्वप्नफलं प्रोक्तं भयका धरणी पते ! । निशम्य भवभीतोऽसौ चिन्तयामास मानसे ॥ ४९ ॥ संसारासारकान्तारे विपत्तिश्वापदाकुले । कालानलमहाभीमे वंभ्रमीति भ्रमाद्वर्यो ॥ ५० ॥ देहे नेहे

संसार वनमें केवल भ्रमसे यह जीव भ्रमण करता रहता है ॥५०॥ अहो ! रोगकेस्थान, नानाप्रकारकी मधुर २ वस्तुओंसे परिवर्द्धित किये हुये, गुणरहित, तथा दुष्टोंके समान दुःख देने वाले इस शरीरमें यह आत्मा कैसे मोह करता होगा ? ॥५१॥ ये भोग सर्पके समान भयंकर हैं, असन्तोषके कारण हैं, सेवनके समय कुछ अच्छेसे मालूम देते हैं परन्तु परिपाक (अगामी) समयमें किम्पाकफलके समान प्राणोंके नाशक हैं। भावार्थ—किंपाकफल ऊपरसे तो बहुत सुन्दर मालूम देता है परन्तु खाने पर विना प्राण लिये नहीं छोड़ता । वैसे ही ये भोग हैं जो सेवन समय तो जरा मनोहरसे मालूम देते हैं परन्तु वास्तवमें दुःखहीके कारण हैं ॥ ५२ ॥

अहो ! कितने खेद की वात है कि—यह जीव भोगोंको भोगता तो है परन्तु उत्तरकालमें होने वाले दुःखोंको नहीं देखता जिसप्रकार विलाव प्रीतिपूर्वक दूध पीता हुआ भी ऊपरसे पढ़ने वाली लकड़ीकी मार सहन किये जाता है । इसप्रकार भव भ्रमणसे भय

रुजामिष्टैः पोषितेऽपि गुणातिगे । मोमुह्यति कथं प्राणी खलवद्दुःखदायके ॥ ५१ ॥ भोगास्तु भोगिवद्भीमा अतृप्तिजनका नृणाम् । आपाते सुन्दराः पाके किंपाकफल-वत्खलाः ॥ ५२ ॥ भुञ्जन्भोगानपेक्षेताद्री दुरन्तं दुःखमायतौ । पयः पिबन्यथा प्रीत्या लकुटं वृषदंशकः ॥ ५३ ॥ इति निर्वेदमापाद्य भवभ्रमणभीतधीः । राज्यं त्यक्तुमने

भीत महाराज चन्द्रगुप्तिने शरीर गृहादि सब वस्तुओंसे विरक्त होकर—अपने पुत्रके लिये राज्य दे दिया। तथा समस्त बन्धु समूहसे क्षमा कराकर भद्रबाहु गुरूके समीप गया और विनय पूर्वक जिनदीक्षाके लिये प्रार्थना की। फिर स्वामीकी आज्ञासे बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग कर शिव सुखका साधन शुद्ध संयम स्वीकार किया ॥५३-५५॥

एक दिन श्रीभद्रबाहु आचार्य जिनदास शेठके घर पर आहारके लिये आये। जिनदासनेभी स्वामीका अत्यन्त आनन्द पूर्वक आह्वानन किया। परन्तु उस निर्जन गृहमें केवल साठ दिनकी आयुका एक बालक पालनेमें झूलता था। जब मुनिराज गृहमें गये उस-समय बालकने—जाओ!! जाओ!! ऐसा मुनिराजसे कहा। बालकके अद्भुत बचन सुनकर मुनिराजने पूछा—वत्स! कहो तो कितने बर्षतक? फिर बालकने

दत्त्वा देहे गेहेऽतिसंभ्रमात् ॥ ५४ ॥ क्षमाप्य सकलान्बन्धून्समासाद्य गुरुं ततः। प्रार्थयात्प्रार्थयामास दीक्षां भवविरक्तधीः ॥ ५५ ॥ गणिनोऽनुज्ञया भूपो हित्वा सङ्गं द्विधा सुधीः। जग्राह संयमं शुद्धं साधकं शिवशर्मणः ॥ ५६ ॥ अथैकस्मिन्दिने भद्रो भद्रबाहुः समाययौ। श्रेष्ठिनो जिनदासस्य कायस्थित्यै निकेतने ॥ ५७ ॥ दृष्ट्वाऽसौ परमानन्दात्प्रतिजग्राह योगिनम्। तत्र शून्यगृहे चैको विद्यते केवलं शिशुः ॥ ५८ ॥ झोलिकान्तर्गतः षष्टिदिवसप्रमितस्तदा। गच्छ! गच्छ!! वचोऽवादीत्तच्छ्रुत्वा मुनिना स्तुतम् ॥ ५९ ॥ शिशुवत्सः पुनस्तेन कियन्तोऽब्दाः

कहा—बारह वर्षपर्यन्त। बालकके वचनसे मुनिराजने निमित्त ज्ञानसे जाना कि—मालवदेशमें बारह वर्षपर्यन्त-भीषण दुर्भिक्ष पड़ैगा। दयालु मुनिराज अन्तराय समझ कर उसीसमय घरसे वापिस वनमें चले गये ॥५६-६१॥

पश्चात् श्रीभद्रबाहु आचार्यने—अपने स्थान पर आकर समस्त मुनिसंघको बुलाया और तप तथा संयमकी वृद्धिके कारण वचन यों कहने लगे—साधुओं! इस देशमें बारह वर्षका भीषण दुर्भिक्ष पड़ैगा। धनधान्य तथा मनुष्यादिसे परिपूर्ण और सुखका स्थान यह देश चोर राजादिके द्वारा लुटाकर शीघ्र ही शून्य हो जायगा। इसलिये संयमी पुरुषोंको ऐसे दारुण देशमें रहना उचित नहीं है। इसप्रकार स्वामीके वचन सम्पूर्ण सङ्घने स्वीकार किये और भद्रबाहु मुनिराजनेभी उसीसमय समस्त सङ्घ सहित उस देशके छोड़नेकी अभिलाषाकी॥६२-६५॥

जब श्रावकोंने मुनिराजके सङ्घ सहित जानेके

शिशो! वद द्वादशाब्दा मुने! प्रोचे निशम्य तद्वचः पुनः ॥ ६० ॥ निमित्त-ज्ञानतोऽज्ञासीन्मुनिस्तत्पातमद्भुतम्। यावद्द्वादश पर्यन्तं दुर्भिक्षं मध्यमण्डले ॥६१॥ भविष्यतितरां चेति कृपाद्रमनसा मुनिः। अन्तरायं विधायाऽऽशु ततो व्याघुटितो गृहात् ॥ ६२ ॥ समभ्येत्याऽऽत्मनः स्थानं समाहूय निजं गणम्। व्याजहार ततो योगी तपः संयमबृंहणम् ॥ ६३ ॥ समा द्वादश दुर्भिक्षं भविताऽत्र योगिनः। धनधान्यजनाकीर्णो जनान्तोऽयं सुखाकरः ॥ ६४ ॥ शून्यो भविष्यति क्षिप्रं तस्कर-भूपलुण्टनैः। ततः संयमिनां युक्तं नाऽत्र स्थातुं सुदारुणे ॥ ६५ ॥ निखिलेन गणेनेति प्रतिपन्नं गुरोर्वचः। यियासुस्ततो जातो गणी गणसमन्वितः ॥ ६६ ॥

समाचार सुनेतो उसीसमय स्वामीके पास आये और विनयसे मस्तक नवाकर बोले—भगवन् ! आपके गमन सम्बन्धि समाचारोंके सुननेसे भक्तिके भारसे वश हुआ हम लोगोंका मन क्षोभको प्राप्त होता है ॥६६॥ ॥६७॥ नाथ ! हमलोगों पर अनुग्रह कर निश्चलतासे यहीं पर रहैं । क्योंकि—गुरूके विना सब पशुओंके समान समझाजाता है ॥ ६८ ॥ जिसप्रकार सरोवर कमलके विना, गन्धरहित पुष्प सुगन्धके विना, हाथी दांतके विना शोभाको प्राप्त नहिं होता उसीतरह भव्यपुरुष गुरूके विना नहीं शोभते ॥ ६९ ॥

इसप्रकार श्रावकोंके बचनोंको सुनकर भद्रबाहु मुनिराज बोले—उपासकगण ! तुम्हें मेरे बचनोंपर भी ध्यान देना चाहिये । देखो ! इस मालवदेशमें बारह बर्ष पर्यन्त अनावृष्टि होगी तथा अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष पड़ैगा । इसालिये व्रत भङ्ग होनेके भयसे साधुओंको इधर नहिं रहना चाहिये ॥ ७०-७१ ॥ समस्त श्रावक

श्रुत्वेति सकलाः श्राद्धा अभ्येत्य मुनिनायकम् । प्रणिपत्य वचः प्रोचुर्विनयानत-मस्तकाः ॥ ६७ ॥ विजिहीर्षां समाकर्ण्य भगवन् ! भवतामतः । क्षोभमेति मनोऽस्माकं भक्तिभारवशीकृतम् ॥ ६८ ॥ स्वामिनत्र कृपां कृत्वा स्थीयतां स्थिरचेतसा । यतो गुरुं विना सर्वे भवन्ति पशुसन्निभाः ॥ ६९ ॥ दश्राकरो विनापद्मं निर्गन्धं कुसुमं यथा । भाति दन्तं विना दन्ती तद्वद्भव्यो गुरुं विना ॥७०॥ इति तद्वाक्यतोऽवोचच्छ्राद्धाः ! शृणुत मद्वचः । द्वादशाऽब्दमनावृष्टिर्मध्ये देशे भविष्यति॥ ७१ ॥दुर्भिक्षं रौरवं चापि ततो युक्तं न योगिनाम् । कदाचिदत्र संस्थातुं व्रतभङ्गभयात्मनाम् ॥७२॥

सङ्घने स्वामीके वचन सुने तो परन्तु हाथ जोड़कर फिर स्वामीसे प्रार्थनाकी ॥ ७२ ॥ नाथ! यह सर्वसङ्घ धनधान्यादि विभूतिसे परिपूर्ण तथा समस्त कार्यके करनेमें समर्थ है और धर्मका भार धारण करनेके लिये धुरन्धरहै ॥७३॥ सो हम उसीतरह कार्य करेंगे जिसप्रकार धर्मकी बहुत प्रवृत्ति होगी। आपको अनावृष्टिका बिल्कुल भय नहीं करना चाहिये। किन्तु यही अच्छा है जो आप निश्चल चित्तसे यहीं निवास करैं ॥ ७४ ॥ उससमय कुबेरमित्र शेठ बोला—नाथ! आपके प्रसादसे मेरे पास बहुत धन है, जो धन दान दिया हुआ भी कुबेरके समान नाशको प्राप्त नहीं होगा। मैं धर्मके लिये मनोभिलषित दान करूंगा ॥ ७५-७६ ॥

इतनेमें जिनदास शेठ भी मधुरवाणीसे बोले—विभो! मेरे यहां भी नानाप्रकार धान्यके बहुतसे कोठे भरे हुये हैं। जो सौवर्ष पर्यन्त दान देनेसे भी कम नहिं होसकते

श्रुत्वा सङ्घस्तदेन गिरं गुरुमुखोदितम्। करौ कुड्मलतां नीत्वा गणी विज्ञापितः पुनः ॥ ७२ ॥ भगवन्! सर्वसङ्घोऽस्ति धनधान्यप्रपूरितः। विश्वकार्यकरो दक्षो धर्मभारधुरन्धरः ॥७३॥ विधास्यामस्तथा यद्वद्धर्मस्यानन्तवर्धनम्। नावृष्टेरपि भेतव्यं स्थातव्यं स्थिरचेतसा ॥ ७४ ॥ श्रेष्ठी कुबेरमित्राख्यस्तदैव समुदाहरत्। विपुलं विद्यते वित्तं त्वत्प्रसादेन मे किल ॥ ७५ ॥ दत्तं न क्षीणतामेति धनदस्येव यद्धनम्। दास्ये यथेप्सितं दानं धर्मकार्यादिहेतवे ॥७६॥ जिनदासस्ततः श्रेष्ठी प्रोचे मधुरया गिरा। कोष्ठा विविधधान्यानां विद्यन्ते विपुला मम ॥ ७८ ॥ ये तु

तो बारह वर्षकी कथाही क्याहै? दीन हीन रङ्कादि दुखी पुरुषोंके लिये यथेष्ट दान देऊंगा फिर यह दुर्भिक्ष क्या करसकैगा? ॥ ७७-७९ ॥ इसकेबाद—माधवदत्त प्रार्थना करने लगा-दयानीरधि! पुण्यके उदयसे वृद्धिको प्राप्त हुई सर्व सम्पत्ति मेरे पासहै सो उसे पात्रदानादिसे तथा समीचीन जिन धर्मके बढ़ानेसे सफल करूंगा। इतने में बन्धुदत्त बोला—देव! आपके प्रसादसे मेरे पास बहुत धन है सो उसके द्वारा दान मानादि से जिनशासनका उद्योत करूंगा। इत्यादि सर्वसङ्घने भद्रबाहु आचार्यसे प्रार्थना की। तब मुनिराज बोले—आपलोग जरा अपने मनको सावधान करके कुछ मेरा भी कहना सुनैं—यद्यपि कल्पवृक्षके समान यह आपलोगों का सङ्घ सम्पूर्ण कामके करनेमें समर्थ है। परन्तु तौभी सुन्दर चारित्रके धारण करनेवाले साधुओंको यहां ठहरना योग्य नहीं है। क्योंकि—यहां अत्यन्त भयानक

वर्षशतेनापि न क्षीयन्ते प्रदानतः। का वार्ता द्वादशाब्दानां तुच्छकालावलम्बिनाम् ॥ ७९ ॥ हीनदीनदरिद्रेभ्यो रङ्कवङ्कादिदुःखिने। दास्ये यथेप्सितं धान्यं दुर्भिक्षं किं करिष्यति ॥८०॥ ततो माधवदत्ताख्यो विज्ञापयति मे प्रभो।। वर्तते सकला संपदतीता पुण्यपोषिता ॥ ८१ ॥ तत्साफल्यं विधास्यामि पात्रदानादिभिर्भृशम्। सद्धर्मबृंहणेनापि बन्धुदत्तस्ततोऽवदत् ॥८२॥ देव। देवप्रसादेन सन्ति मे विपुलाः श्रियः। विधास्ये शासनोद्योतं दानमानक्रियादिभिः ॥ ८३ ॥ इत्यादिसकलैः सङ्घैर्यमी विज्ञापितोऽब्रवीत्। समाधाय मनः श्राद्धा! मद्वचः श्रृणुतादरात् ॥ ८४ ॥ सङ्घोऽयं सुरवृक्षाभः समर्थः सर्वकर्मसु। तथापि नात्र योग्यास्था चारुचारित्रधारि-

तथा दुःख देने वाला दुर्भिक्ष पड़ेगा। संयमकी इच्छा करने वाले पुरुषोंको यह समय धान्यके समान अत्यन्त दुर्लभ होने वाला है। यहां पर जितने साधु रहेंगे वे संयमका परिपालन कभी नहिं कर सकेंगे। इसलिये हम तो यहांसे अवश्य कर्णाटकदेशकी ओर जावेंगे॥ ७०—८६॥

उससमय सब श्रावक लोग श्रीभद्रबाहुस्वामीके अभिप्रायोंको समझ कर रामल्य स्थूलाचार्य तथा स्थूलभद्रादि साधुओंको प्रणाम कर भक्ति पूर्वक उनसे वहीं रहनेके लिये प्रार्थना की। साधुओंने भी जब श्रावकोंका अधिक आग्रह देखा तो उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। और फिर बारह वर्ष पर्यन्त वहीं रहनेका निश्चय किया।

शेष बारह हजार साधुओंको अपने साथ लेकर श्रीभद्रबाहु आचार्य दक्षिणकी ओर रवाना हुये। ग्रन्थकार कहते हैं उससमय श्रीभद्रबाहुस्वामी ठीक तारा मण्डलसे विराजित सुधांशुका अनुकरण करते थे।

णाम्॥ ८५॥ पतिष्यतितरां रौद्रं दुर्भिक्षं दुःखदं नृणाम्। धान्यवद्दुर्लभो भावी संयमः संयमैषिणाम्॥ ८६॥ स्थास्यन्ति योगिनो येऽत्र ते न पास्यन्ति संयमम्। ततोऽस्माद्विहरिष्यामोऽवश्यं कर्णाटनीवृतम्॥ ८७॥ विदित्वा विभवस्तेऽस्या गुरुणामाशयं पुनः। रामल्यस्थूलभद्राख्यस्थूलाचार्यादियोगिनः॥८८॥ प्रणम्य प्रार्थयामास भक्त्या संस्थितिहेतवे। आदानानुपरोधेन प्रतिपन्नं तु तद्वचः॥ ८९॥ रामल्यप्रमुखास्तस्थुः गतस्तद्द्वादशाब्दकः। भद्रबाहुगणी तस्माच्चचाल दक्षिणां दिशम्॥९०॥ द्वादशर्षिसहस्रेण परीतो गणनायकः। येतवं स सुधांशुर्वा तारताराविराजितः॥९१॥

जब श्रीभद्रबाहु साधुराज चले गये तब अवन्ती (उज्जयिनी) निवासी लोग स्वामीके चले जानेके शोकसे परस्परमें कहने लगे कि—अहो ! वही तो देश भाग्यशाली है जिसमें सुन्दर चारित्रके धारक निर्ग्रंथ साधु विहार करते रहते हैं, जो कमलिनियोंसे शोभित होता है तथा जहां राजहंस शकुन्त रहते हैं। ऐसा जो पुराने कार्तान्तिक (ज्योतिषी) लोगोंने कहा है वह वास्तवमें बहुत ठीक है ॥ ९२ ॥

अहो ! धर्म ही एक ऐसी उत्तम वस्तु है जिससे जिन भगवानकी परिचर्याका सौभाग्य मिलता है निर्दोष गुरुओंकी सेवा करनेका सुअवसर मिलता है विशुद्ध वंशमें जन्म तथा ऐश्वर्य समुपलब्ध होता है। इसलिये धर्मका संचय करना समुचित है।

इति श्रीरत्ननन्दि आचार्य विनिर्मित श्रीभद्रबाहु चरित्रकेआभिनव हिन्दीभाषानुवादमें सोलह स्वप्नोंका फल तथा स्वामीके विहार वर्णन नाम द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

यद्देशे विचरन्ति चारुचरिता निर्ग्रन्थयोगीश्वराः
पद्मिन्योऽपि च राजहंसविहंगास्तत्रैव भाग्योदयः ।
इत्युक्तं हि पुरा निमित्तकुशलैस्तत्थ्यतामाश्रिता-
स्तत्रत्याः सुगुरुप्रयाणजशुचा प्रोचुर्मिथस्ते जनाः ॥ ९२ ॥
धर्मतो जिनपतेः सुसपर्या धर्मतोऽनघगुरोः परिचर्या ।
धर्मतोऽमलकुलं विभवाप्तिर्भवतीति हि ततः स विधेयः ॥९३॥
इति श्रीभद्रबाहुचरित्रे आचार्यश्रीरत्ननन्दिविरचिते
षोडशस्वप्नफलगुरुविहारवर्णनो नाम द्वितीयः
परिच्छेदः ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय परिच्छेद ।

श्रीभद्रबाहुस्वामी विहार करते हुये धीरे २ किसी गहन अटवीमें पहुँचे । और वहाँ बड़भारी आश्चर्यमें डालने वाली आकस्मिक आकाशवाणी सुनी । जब निमित्तज्ञानसे उसका फल विचारा तो उन्हें यह मालूम होगया कि—अब हमारे जीवनका भाग बहुत ही थोड़ा है । उसी समय उन्होंने सब साधु-समूहको बुलाया और उनमें—श्रीविशाखाचार्यको गुण-रूप विभवसे विराजित, दशपूर्वके जानने वाले तथा गंभीरता धैर्यादि उत्तम २ गुणोंके आधार समझ कर उन्हें समस्त साधुसंघकी परिपालनाके लिये अपने पट्टपर नियोजित किये । और सब साधुओंसे सम्बोधन

ॐ

तृतीयः परिच्छेदः ।

अथाऽसौ विहरन्स्वामी भद्रबाहुः शनैः शनैः । प्रापन्महाऽटवीं तत्र शुश्राव गगनध्वनिम् ॥ १ ॥ श्रुत्वा महाऽद्भुतं शब्दं निमित्तज्ञानतः गुरुः । आयुरल्पत-रमात्मीयमवागमीद्दीर्घलोचनः ॥ २ ॥ तदा साधुः समाहूय तत्रैव सकलान्मुनीन् । विशाखाचार्यनामानं ज्ञात्वा सद्गुणसम्पदा ॥ ३ ॥ दशपूर्वधरं धीरं गाम्भीर्यादि-गुणान्वितम् । स्वशिष्यगणरक्षार्थं स्वपदे संस्थापयत् ॥ ४ ॥ समर्थं सकलं संघ

करके कहा—साधुओं ! अब मेरे जीवनकी मात्रा बहुत थोड़ी बची है इसलिये मैं तो यहीं पर इसी शैल-कन्दरामें रहूंगा। आप लोग दक्षिणकी ओर जावें और वहीं अपने संघके साथमें रहैं। स्वामीके उदासीन बचनोंको सुनकर श्रीविशाखाचार्य बोले—विभो ! आपको अकेले छोड़कर हम लोगोंकी हिम्मत जानेमें कैसे होगी ? इतनेमें नवदीक्षित श्रीचन्द्रगुप्ति मुनि विनय पूर्वक बोले—आप इस विषयकी चिन्ता न करें मैं बारहवर्ष पर्यन्त स्वामीके चरणोंकी सभक्ति परिचर्या करता रहूंगा। उससमय भद्रबाहुस्वामीने—चन्द्रगुप्तिसे जानेके लिये बहुत आग्रह किया परन्तु उनकी अविचल भक्ति उन्हें कैसे दूरकर सकती थी। साधुलोगभी गुरु वियोगजनित उद्वेगसे उद्वेजित तो बहुत हुये परन्तु जब स्वामीका अनुशासन ही ऐसा था तो वे कर ही क्या सकते थे ? सो किसीतरह वहां से चले ही !

ग्रन्थकारकी यहनीति बहुतही ठीक है कि—वेही

बभाणाऽसौ पुनर्वचः। मदायुर्विद्यतेऽस्वल्पं स्थास्याम्यत्र गुहान्तरे ॥ ५ ॥ भवन्तो विहरन्त्वस्माद्दक्षिणं पथमुत्तमम्। संघेन महता सार्धं तत्र तिष्ठन्तु सौख्यतः ॥ ६ ॥ श्रुत्वा गुरूदितं प्रोचे विशाखो गणनायकः। मुक्त्वा गुरुं कथं यामो वयमेकाकिनो विभो ! ॥ ७ ॥ चन्द्रगुप्तिस्तदावादीद्विनयान्नवदीक्षितः। द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपासेऽतिभक्तितः ॥ ८ ॥ गुरुणा वार्यमाणोऽपि गुरुभक्तः स तस्थिवान्। गुरुशिष्टिवशाद्गन्धे तस्माच्चेलुस्तपोधनाः ॥ ९ ॥ गुरोर्विरहसंभूतशुचा संव्यग्रमानसाः।

वे उत्तम शिष्य कहे जाते हैं जो गुरुकी आज्ञाके पालन करने वाले होते हैं।

पश्चात् श्रीविशाखाचार्य—समस्त साधुसंघके साथ २ ईर्यासमितीकी शुद्धिपूर्वक दक्षिणदेशमें विहार करते हुये मार्गमें भव्य पुरुषोंको सुमार्गके अभिमुख करते हुये और नवदीक्षित साधुओंको पढ़ाते हुये चौलदेशमें आये। और फिर वहीं रहकर धर्मोपदेश करने लगे।

उधर तत्वके जानने वाले विशुद्धात्मा तथा योग साधनमें पुरुषार्थशाली श्रीभद्रबाहु योगीराजने अपने मन वचन कायके योगोंकी प्रवृत्तिको रोककर सल्लेखना विधि स्वीकार की। और फिर वहीं पर गिरिगुहामें रहने लगे। उनकी परिचर्याके लिये जो चन्द्रगुप्ति मुनि रहे थे परन्तु वनमें श्रावकोंका अभाव होनेसे उन्हें प्रोषध करना पड़ता था। सो एकदिन स्वामीने उनसे कहा—वत्स ! निराहार तो रहना किसी तरह उचित नहीं है। इसलिये तुम वनमें भी आहारके लिये जाओ।

स एव कीर्त्तिताः शिष्या ये गुर्वाज्ञानुवर्त्तिनः ॥ १० ॥ विशाखो विहरन्नुर्व्यामीर्या-निहितलोचनः । प्राप्तो मुनिसंघेन दक्षिणापथमुन्नतम् ॥ ११ ॥ बोधयन्भव्यलोकान्मा-र्गाच्चोलदेशं समासदत् । बोधयञ्छासनं जैनं पाठयन्नवदीक्षितान् ॥ १२ ॥ तस्थौ तत्र गणाधीशः कुर्वन्धर्मोपदेशनम् । अथ बाहुर्विशुद्धात्मा भद्रपूर्वो सुतत्त्ववित् ॥ १३ ॥ निरुध्य निखिलान्योगान्योगी योगपरायणः । सन्यासविधिमादाय तस्थौ तत्र गुहान्तरे ॥ १४ ॥ चन्द्रगुप्तिर्मुनिस्तस्य कुर्वन्पर्युपासनम् । श्रावकागमनाभावेन कुर्वाणः प्रोषधं परम् ॥ १५ ॥ गुरुणोक्तस्तदा शिष्यो वत्स त्वं नैव युज्यते । कुरु

क्योंकि यह जैनशास्त्रोंकी आज्ञा है।

चन्द्रगुप्ति मुनि गुरुके कहे हुये बचनोंको स्वीकार कर और उनके पादारविन्दोंको नमस्कार कर आहारके लिये वनमें भ्रमण करने लगे। उस अटवीमें पांच वृक्षोंके नीचे घूमते हुये चन्द्रगुप्ति मुनिको गुरुभक्त तथा सुदृढ़-चारित्रके धारण करने वाले समझकर कोई जिनधर्मकी अनुरागिणी तथा शुद्ध हृदयकी धारक वनदेवीने— वहां आकर और उसीसमय अपना रूप बदल कर एकही हाथसे—वृक्षके नीचे धरी हुई, उत्तम२ अन्नसे भरी हुई तथा घी शर्करादिसे सुशोभित थाली मुनिके लिये दिखलाई॥

चन्द्रगुप्ति मुनि इस आश्चर्य को अटवीमें देखकर मनमें विचारने लगे कि—शुद्ध भोजन भले ही तयार क्यों न हो? परन्तु दाताके विना तो लेना योग्य नहीं है। ऐसा कहकर वहांसे चल दिये और गुरूके पास जाकर

कान्तारचर्या एवं यथोक्ता श्रीजिनागमे॥ १६॥ गिरं गुरूदितां रम्यां प्रमाणीकृत्य संयतः। प्रणम्य गुरुपादाब्जौ भ्रामर्यै स व्यचीचरत्॥ १७॥ भ्रमंस्तत्र स भिक्षार्थं पञ्चानां शाखिनामधः। वनदेवी विदित्वा तं गुरुभक्तं दृढव्रतम्॥ १८॥ वत्सला जिनधर्मस्य तत्रागत्य स्वयं स्थिता। पराकृत्य निजं रूपमेकेनैव स्वपाणिना॥ १९॥ दर्शयन्ती शुभस्वान्ता पादपाधो धृतां पराम्। परमान्नभृतां स्थालीं सर्पिःखण्डादि-मण्डिताम्॥ २०॥ तच्चित्रं तत्र वीक्ष्यासौ चिन्तयामास मानसे। सिद्धं शुद्धमपि भोज्यं न युक्तं दातृवर्जितम्॥ २१॥ ततो व्याघुटितस्तस्मादासाद्य गुरुमानमत्।

उन्हें नमस्कार किया तथा वनमें जोकुछ देखा था उसे ज्योंका त्यों गुरूसे कह दिया। उससमय भद्रबाहुस्वामीने अपने शिष्यकी प्रशंसाकी तथा बोले—वत्स ! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया। क्योंकि—जब दाता प्रतिग्रहादि विधिसे आहार दे तभी हमलोगोंको लेना चाहिये॥

दूसरे दिन फिर चन्द्रगुप्तिमुनि स्वामीको नमस्कार कर आहारके लिये दूसरे वृक्षोंमें गये। परन्तु वहां उन्होंने केवल भोजन पात्र देखा। उसी वक्त वहांसे लौटकर गुरूके पास गये और प्रणाम कर वीते हुये वृतान्तको कह सुनाया। गुरूनेभी प्रशंसा कर कहा—भव्य ! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया क्योंकि—साधुओंको अपने आप दूसरोंका अन्न ग्रहण करना योग्य नहींहै॥

इसी तरह तीसरे दिनभी गुरूके चरणपङ्कजोंको नमस्कार कर चन्द्रगुप्तिमुनि आहारके लिये गये। परन्तु उसदिन भी केवल एक स्त्रीको देखकर अपने आहारकी योग्यता न समझ कर शीघ्र ही लौट आये। गुरूके पास

यदृष्टं तत्र तत्सर्वं समाचष्टे गुरोः पुरः ॥ २२ ॥ गुरुणा भाषितः शिष्यो यत्त्वेदं विहितं वत्स। प्रतिग्रहादिविधिना दत्ते दाता हि गृह्यते ॥ २३ ॥ चन्द्रगुप्तिर्द्वितीयेऽह्नि नत्वाऽऽहाराय योगिनम्। जगामान्यमहीजेषु भाजनं तत्र केवलम् ॥ २४ ॥ गत्वा गुरुं वन्देऽसौ तद्वृत्तं समचाकथत्। सूरिणा भाषितः शिष्यो भव्य ! भव्यं त्वया कृतम् ॥ २५ ॥ न युक्तं यतिनामेतन्नान्यस्यान्नस्य भोजनम्। चन्द्रगुप्तिस्तृतीयेऽह्नि प्रणम्य गुरुपङ्कजम् ॥ २६ ॥ कार्यस्थिरयं चचालाऽसौ सत्याप्येकाङ्गना

आकर और उन्हें नमस्कार कर देखे हुये वृतान्तको कह सुनाया। चन्द्रगुप्तिके वचन सुनकर भद्रबाहुने उनकी प्रशंसा कर कहा—वत्स! जैसा शास्त्रोंमें कहा वैसा ही तुमने आचरण किया क्योंकि—जहां केवल एकही स्त्री हो वहां साधुओंको जीमना योग्य नहीं है॥

फिर चौथे दिन गुरूको प्रणाम कर आहारके लिये जब चन्द्रगुप्तिमुनि घूमने लगे तब वनदेवीने उन्हें निश्चलव्रतके धारण करने वाले तथा पवित्र हृदय समझ कर उसीसमय वनमें गृहस्थजनोंसे पूर्ण नगर रचा। मुनिराजने भी—मनुष्योंसे पूर्ण नगर देखकर उसमें प्रवेश किया और वहां गृहस्थोंसे पदपदमें नमस्कार किये हुये होकर श्रावकोंके द्वारा यथाविधि दिया हुआ मनोहर आहार ग्रहण किया॥

चन्द्रगुप्ति मुनिराज पारणा करके अपने स्थान पर

स्त्रियम्। विलोक्यायोग्यतां मत्वा विरराम ततो जवात्॥ २७॥ गुरुमभ्येत्य वन्दित्वा पुनस्तद्वृत्तमालपत्। तदाकर्ण्य समाचष्टे दीक्षितं शंसयन्गुरुः॥ २८॥ यदुक्तमागमे वत्स! तदेवाऽनुष्ठितं त्वया। न युक्तं यत्र वामैका यतीनां तत्र जेमनम्॥ २९॥ चतुर्थेऽह्नि गुरुं नत्वा लेपार्थं व्यचरन्मुनिः। ज्ञात्वा दृढव्रतं धीरं देव्या तं शुद्धचेतसम्॥ ३०॥ नगरं निर्मितं तत्र सागारिजनसंकुलम्। गच्छंस्तत्र मुनिर्वीक्ष्य नगरं नागरैर्वृतम्॥ ३१॥ प्रविष्टस्तत्र सागारैर्वन्द्यमानः पदे पदे। जग्राह रुचिराऽऽहारं प्रत्तं श्राद्धैर्यथाविधिः॥ ३२॥ कृत्वाऽसौ पारणं गत्वा स्वस्थाने त्वरित

तथा दुःख देने वाला दुर्भिक्ष पड़ेगा। संयमकी इच्छा करने वाले पुरुषोंको यह समय धान्यके समान अत्यन्त दुर्लभ होने वाला है। यहां पर जितने साधु रहेंगे वे संयमका परिपालन कभी नहिं कर सकेंगे। इसलिये हम तो यहांसे अवश्य कर्णाटकदेशकी ओर जावेंगे ॥ ७०—८६ ॥

उससमय सब श्रावक लोग श्रीभद्रबाहुस्वामीके अभिप्रायोंको समझ कर रामल्य स्थूलाचार्य तथा स्थूलभद्रादि साधुओंको प्रणाम कर भक्ति पूर्वक उनसे वहीं रहनेके लिये प्रार्थना की। साधुओंने भी जब श्रावकोंका अधिक आग्रह देखा तो उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। और फिर बारह वर्ष पर्यन्त वहीं रहनेका निश्चय किया।

शेष बारह हजार साधुओंको अपने साथ लेकर श्रीभद्रबाहु आचार्य दक्षिणकी ओर रवाना हुये। ग्रन्थकार कहते हैं उससमय श्रीभद्रबाहुस्वामी ठीक तारा मण्डलसे विराजित सुधांशुका अनुकरण करते थे।

णाम् ॥ ८५ ॥ पतिष्यतितरां रौद्रं दुर्भिक्षं दुःखदं नृणाम्। धान्यवद्दुर्लभो भावी संयमः संयमैषिणाम् ॥ ८६ ॥ स्थास्यन्ति योगिनो येऽत्र ते न पालयितुं संयमम्। ततोऽस्माभिर्गमिष्यामोऽवश्यं कर्णाटनीवृतम् ॥ ८७ ॥ विदित्वा श्रावकाः सर्वे गुरूणामाशयं पुनः। रामल्यस्थूलभद्राख्यस्थूलाचार्यादियोगिनः ॥ ८८ ॥ प्रणम्य प्रार्थयामास भक्त्या स्थितिनिमित्तकं। श्राद्धानामनुरोधेन प्रतिपन्नं तु तद्वचः ॥ ८९ ॥ रामल्यप्रमुखास्तस्थुः षट्सहस्रादियोगिनः। भद्रबाहुगणी नमस्यत्वा गमनेच्छः ॥ ९० ॥ द्वादशर्षिसहस्रेण परीतो गणनायकः। रेजे स्म सुधांशुर्वा तारकानिकरैः ॥ ९१ ॥

जब श्रीभद्रबाहु साधुराज चले गये तब अवन्ती (उज्जयिनी) निवासी लोग स्वामीके चले जानेके शोकसे परस्परमें कहने लगे कि—अहो ! वही तो देश भाग्यशाली है जिसमें सुन्दर चारित्रके धारक निर्ग्रंथ साधु विहार करते रहते हैं, जो कमलिनियोंसे शोभित होता है तथा जहां राजहंस शकुन्त रहते हैं। ऐसा जो पुराने कार्तान्तिक (ज्योतिषी) लोगोंने कहा है वह वास्तवमें बहुत ठीक है ॥ ९२ ॥

अहो ! धर्म ही एक ऐसी उत्तम वस्तु है जिससे जिन भगवानकी परिचर्याका सौभाग्य मिलता है निर्दोष गुरुओंकी सेवा करनेका सुअवसर मिलता है विशुद्ध वंशमें जन्म तथा ऐश्वर्य समुपलब्ध होता है। इसलिये धर्मका संचय करना समुचित है।

इति श्रीरत्ननन्दि आचार्य विनिर्मित श्रीभद्रबाहु चरित्रकेअभिनव हिन्दीभाषानुवादमें सोलह स्वप्नोंका फल तथा स्वामीके विहार वर्णन नाम द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

यद्देशे विचरन्ति चारुचरिता निर्ग्रन्थयोगीश्वराः
पद्मिन्योऽपि च राजहंसविहगास्तत्रैव भाग्योदयः ।
इत्युक्तं हि पुरा निमित्तकुशलैस्तत्तथ्यतामाश्रिता-
स्तत्रत्याः सुगुरुप्रयाणजशुचा प्रोचुर्मिथस्ते जनाः ॥ ९२ ॥
धर्मतो जिनपतेः सुसपर्या धर्मतोऽनघगुरोः परिचर्या ।
धर्मतोऽमलकुलं विभवाप्तिर्वोभवीति हि ततः स विधेयः ॥९३॥

इति श्रीभद्रबाहुचरित्रे आचार्यश्रीरत्ननन्दिविरचिते
षोडशस्वप्नफलगुरुविहारवर्णनो नाम द्वितीयः
परिच्छेदः ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय परिच्छेद ।

श्रीभद्रबाहुस्वामी विहार करते हुये धीरे २ किसी गहन अटवीमें पहुँचे । और वहाँ बड़भारी आश्चर्यमें डालने वाली आकस्मिक आकाशवाणी सुनी । जब निमित्तज्ञानसे उसका फल विचारा तो उन्हें यह मालूम होगया कि—अब हमारे जीवनका भाग बहुत ही थोड़ा है । उसी समय उन्होंने सब साधु-समूहको बुलाया और उनमें—श्रीविशाखाचार्यको गुण-रूप विभवसे विराजित, दशपूर्वके जानने वाले तथा गंभीरता धैर्यादि उत्तम २ गुणोंके आधार समझ कर उन्हें समस्त साधुसंघकी परिपालनाके लिये अपने पट्टपर नियोजित किये । और सब साधुओंसे सम्बोधन

ॐ

तृतीयः परिच्छेदः ।

अथासौ विहरन्स्वामी भद्रबाहुः शनैः शनैः । प्राप्तवानटवीं तत्र शुश्राव गगनध्वनिम् ॥ १ ॥ श्रुत्वा महाद्भुतं शब्दं निमित्तज्ञानतः सुधीः । आयुरल्प-मात्मीयमज्ञासीद्धीमतां [illegible] ॥ २ ॥ तदा साधुः समाहूय संघं [illegible] । विशाखाचार्यमापाद्य [illegible] ॥ ३ ॥ [illegible] गुणान्वितम् । स्वकीये [illegible] ॥ ४ ॥ [illegible]

करके कहा—साधुओं ! अब मेरे जीवनकी मात्रा बहुत थोड़ी बची है इसलिये मैं तो यहीं पर इसी शैल-कन्दरामें रहूंगा। आप लोग दक्षिणकी ओर जावें और वहीं अपने संघके साथमें रहें। स्वामीके उदासीन बचनोंको सुनकर श्रीविशाखाचार्य बोले—विभो ! आपको अकेले छोड़कर हम लोगोंकी हिम्मत जानेमें कैसे होगी ? इतनेमें नवदीक्षित श्रीचन्द्रगुप्ति मुनि विनय पूर्वक बोले—आप इस विषयकी चिन्ता न करें मैं बारहवर्ष पर्यन्त स्वामीके चरणोंकी सभक्ति परिचर्या करता रहूंगा। उससमय भद्रबाहुस्वामीने—चन्द्रगुप्तिसे जानेके लिये बहुत आग्रह किया परन्तु उनकी अविचल भक्ति उन्हें कैसे दूरकर सकती थी। साधुलोगभी गुरु वियोगजनित उद्वेगसे उद्वेजित तो बहुत हुये परन्तु जब स्वामीका अनुशासन ही ऐसा था तो वे कर ही क्या सकते थे ? सो किसीतरह वहां से चले ही !

ग्रन्थकारकी यहनीति बहुतही ठीक है कि—वेही

ममाणाऽसौ पुनर्वचः । ममायुर्विद्यतेऽस्वल्पं स्थास्याम्यत्र गुहान्तरे ॥ ५ ॥ भवन्तो विहरन्त्वस्माद्दक्षिणं पथमुत्तमम् । संघेन महता सार्धं तत्र तिष्ठन्तु सौख्यतः ॥ ६ ॥ श्रुत्वा गुरूदितं प्रोचे विशाखो गणनायकः । मुक्त्वा गुरुं कथं यामो वयमेकाकिनो विभो ! ॥ ७ ॥ चन्द्रगुप्तिस्तदावादीद्विनयान्नवदीक्षितः । द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपासेऽतिभक्तितः ॥ ८ ॥ गुरुणा वार्यमाणोऽपि गुरुभक्तः स तस्थिवान् । गुर्वीशिष्टिमसाद्यन्वे तस्माच्चेलुस्तपोधनाः ॥ ९ ॥ गुरोर्विरहसंभूतशुचा संव्यग्रमानसाः ।

तो उत्तम शिष्य कहे जाते हैं जो गुरुकी आज्ञाके पालन करने वाले होते हैं।

पश्चात् श्रीविशाखाचार्य—समस्त साधुसंघके साथ २ ईर्यासमितीकी शुद्धिपूर्वक दक्षिणदेशमें विहार करते हुये मार्गमें भव्य पुरुषोंको सुमार्गके अभिमुख करते हुये और नवदीक्षित साधुओंको पढ़ाते हुये चोलदेशमें आये। और फिर वहीं रहकर धर्मोपदेश करने लगे।

उधर तत्वके जानने वाले विशुद्धात्मा तथा योग साधनमें पुरुषार्थशाली श्रीभद्रबाहु योगीराजने अपने मन वचन कायके योगोंकी प्रवृत्तिको रोककर सल्लेखना विधि स्वीकार की। और फिर वहीं पर गिरिगुहामें रहने लगे। उनकी परिचर्याके लिये जो चन्द्रगुप्ति मुनि रहे थे परन्तु वनमें श्रावकोंका अभाव होनेसे उन्हें प्रोषध करना पड़ता था। सो एकदिन स्वामीने उनसे कहा—वत्स! निराहार तो रहना किसी तरह उचित नहीं है। इसलिये तुम वनमें भी आहारके लिये जाओ।

त एव कीर्तिताः शिष्या ये गुर्वाज्ञानुवर्तिनः ॥ १० ॥ विशाखो विहरन्मार्गे [illegible] निहितलोचनः। परीतो मुनिसंघेन दक्षिणापथमुन्मुख ॥ ११ ॥ बोधयन्भव्यलोकान्- [illegible] चोलदेशं समासदत्। [illegible] पाठयन्नवदीक्षितान् ॥ १२ ॥ तत्रैव तत्र गणाधीशः कुर्वन्धर्मोपदेशनम्। अथ बाहुर्विशुद्धात्मा भद्रपूर्वो गुणान्वितः ॥ १३ ॥ निरुध्य त्रिविधान्योगान्योगी योगपरायणः। [illegible] तस्थौ [illegible] गुहान्तरे ॥ १४ ॥ चन्द्रगुप्तिमुनिस्तस्य कुर्वन् पर्युपासनम्। [illegible] कुर्वाणः प्रोषधं परम् ॥ १५ ॥ गुरुणोक्तस्तदा शिष्यो [illegible]। [illegible]

क्योंकि यह जैनशास्त्रोंकी आज्ञा है।

चन्द्रगुप्ति मुनि गुरूके कहे हुये बचनोंको स्वीकार कर और उनके पादारविन्दोंको नमस्कार कर आहारके लिये वनमें भ्रमण करने लगे। उस अटवीमें पांच वृक्षोंके नीचे घूमते हुये चन्द्रगुप्ति मुनिको गुरुभक्त तथा सुदृढ़-चारित्रके धारण करने वाले समझकर कोई जिनधर्मकी अनुरागिणी तथा शुद्ध हृदयकी धारक वनदेवीने— वहां आकर और उसीसमय अपना रूप बदल कर एकही हाथसे—वृक्षके नीचे धरी हुई, उत्तम२ अन्नसे भरी हुई तथा घी शर्करादिसे सुशोभित थाली मुनिके लिये दिखलाई॥

चन्द्रगुप्ति मुनि इस आश्चर्य को अटवीमें देखकर मनमें विचारने लगे कि—शुद्ध भोजन भले ही तयार क्यों न हो? परन्तु दाताके विना तो लेना योग्य नहींहै। ऐसा कहकर वहांसे चल दिये और गुरूके पास जाकर

कान्तारचर्यां एवं यथोक्तां श्रीजिनागमे ॥ १६ ॥ गिरं गुरूदितां रम्यां प्रमाणीकृत्य संयतः। प्रणम्य गुरुपादाब्जौ भ्रामर्यै स व्यचीचरत् ॥ १७ ॥ भ्रमंस्तत्र स भिक्षार्थं पञ्चानां शाखिनामधः। वनदेवी विदित्वा तं गुरुभक्तं दृढव्रतम् ॥ १८ ॥ वत्सला जिनधर्मस्य तत्रागत्य स्वयं स्थिता। पराभूत्य निजं रूपमेकेनैव स्वपाणिना ॥ १९ ॥ दर्शयन्ती शुभस्वान्ता पादपाधो धृतां पराम्। परमान्नभृतां स्थालीं सर्पिःखण्डादिमण्डिताम् ॥ २० ॥ तच्चित्रं तत्र वीक्ष्यासौ चिन्तयामास मानसे। सिद्धं शुद्धमपि भोज्यं न युक्तं दातृवर्जितम् ॥ २१ ॥ ततो व्याघुटितस्तस्माद्दागत्य गुरुमानमत्।

उन्हें नमस्कार किया तथा वनमें जोकुछ देखा था उसे ज्योंका त्यों गुरुसे कह दिया। उससमय भद्रबाहुस्वामीने अपने शिष्यकी प्रशंसाकी तथा बोले—वत्स ! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया। क्योंकि—जब दाता प्रतिग्रहादि विधिसे आहार दे तभी हमलोगोंको लेना चाहिये॥

दूसरे दिन फिर चन्द्रगुप्तिमुनि स्वामीको नमस्कार कर आहारके लिये दूसरे वृक्षोंमें गये। परन्तु वहां उन्होंने केवल भोजन पात्र देखा। उसी वक्त वहांसे लौटकर गुरुके पास गये और प्रणाम कर बीते हुये वृतान्तकों कह सुनाया। गुरुनेभी प्रशंसा कर कहा—भव्य ! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया क्योंकि—साधुओंको अपने आप दूसरोंका अन्न ग्रहण करना योग्य नहींहै॥

इसी तरह तीसरे दिनभी गुरुके चरणपङ्कजोंको नमस्कार कर चन्द्रगुप्तिमुनि आहारके लिये गये। परन्तु उसदिन भी केवल एक स्त्रीको देखकर अपनें आहारकी योग्यता न समझ कर शीघ्र ही लौट आये। गुरुके पास

यद्दृष्टं तत्र तत्सर्वं समाचष्टे गुरोः पुरः ॥ २२ ॥ गुरुणा शंसितः शिष्यो भद्रेदं विहितं त्वया। प्रतिग्रहादिविधिना दत्तं ग्राह्यं हि मुमुक्षुभिः ॥ २३ ॥ चन्द्रगुप्तिर्द्वितीयेऽह्नि नत्वाऽऽहाराय योगिनम्। जगामान्यत्र तत्रापि ददर्श भाजनं केवलम् ॥ २४ ॥ गत्वा गुरुं स्वदृष्टं तद्वृत्तं समचीकथत्। सूरिणा शंसितः शिष्यो भव्य ! भव्यं त्वया कृतम् ॥ २५ ॥ न युक्तं यतिनामन्नं स्वयमेवान्यसद्मनि। चन्द्रगुप्तिस्तृतीयेऽह्नि प्रणम्य गुरुपङ्कजम् ॥ २६ ॥ चर्यार्थं प्राविशत्तत्र ददर्श तत्र केवलम्

आकर और उन्हें नमस्कार कर देखे हुये वृतान्तको कह सुनाया। चन्द्रगुप्तिके वचन सुनकर भद्रबाहुने उनकी प्रशंसा कर कहा—वत्स! जैसा शास्त्रोंमें कहा वैसा ही तुमने आचरण किया क्योंकि—जहां केवल एकही स्त्री हो वहां साधुओंको जीमना योग्य नहीं है॥

फिर चौथे दिन गुरूको प्रणाम कर आहारके लिये जब चन्द्रगुप्तिमुनि घूमने लगे तब वनदेवीने उन्हें निश्चलव्रतके धारण करने वाले तथा पवित्र हृदय समझ कर उसीसमय वनमें गृहस्थजनोंसे पूर्ण नगर रचा। मुनिराजने भी—मनुष्योंसे पूर्ण नगर देखकर उसमें प्रवेश किया और वहां गृहस्थोंसे पदपदमें नमस्कार किये हुये होकर श्रावकोंके द्वारा यथाविधि दिया हुआ मनोहर आहार ग्रहण किया॥

चन्द्रगुप्ति मुनिराज पारणा करके अपने स्थान पर

स्त्रियम्। विलोक्यस्योग्यतां मत्वा विरराम ततो जधात् ॥ २७ ॥ गुरुमभ्येत्य वन्दित्वा पुनस्तद्वृत्तमालपत्। तदाकर्ण्य समाचष्टे दीक्षितं संशयन्गुरुः ॥ २८ ॥ यदुक्तमागमे वत्स! तदेवाऽनुष्ठितं त्वया। न युक्तं यत्र वामैका यतीनां तत्र जेमनम् ॥ २९ ॥ चतुर्थेऽह्नि गुरुं नत्वा लेपार्थं व्यचरन्मुनिः। ज्ञात्वा दृढव्रतं धीरं देव्या सं शुद्धचेतसम् ॥ ३० ॥ नगरं निर्मितं तत्र सागारिजनं संकुलम्। गच्छंस्तत्र मुनिर्वीक्ष्य नगरं नागरैर्वृतम् ॥ ३१ ॥ प्रविष्टस्तत्र सागारैर्वन्द्यमानः पदे पदे। जग्राह रुचिराऽऽहारं प्रत्तं श्राद्धैर्यथाविधिः ॥ ३२ ॥ कृत्वाऽसौ पारणं गत्वा स्वस्थानं त्वरित

भोजन लाकर दिनमें किया करें तो अच्छा हो। जबतक काल अच्छा न आवे तबतक इसी तरह कीजिये। और जब काल अच्छा आजाय, देशमें सुभिक्ष होने लगे तब तपश्चरण करिये। उस समय समस्त साधुओंने श्रावकोंके वचनोंको स्वीकार किये। इसीतरह वे साधु धीरे २ शिथिल होकर व्रतादिमें दोष लगाने लगे। ग्रन्थकार कहते हैं यह बात ठीक है कि—कुमार्गगामी लोग क्या २ अकार्य नहिं करते हैं।

इसप्रकार अत्यन्त दुःख पूर्वक जब बारह वर्ष बीत चुके, अच्छी वर्षा होने लगी, लोग सुखी होने लगे तथा देशमें सुभिक्ष होने लगा तो विशाखाचार्य सब मुनियोंको साथ लेकर दक्षिण देशसे उत्तर देशकी ओर आये। और जहां श्रीभद्रबाहु आचार्यने समाधि ली थी वहीं आकर ठहरे तथा विनय पूर्वक श्रीभद्रबाहु गुरुके पदपङ्कजको प्रणाम किया। पश्चात् श्रीचन्द्रगुप्ति मुनिरा-

भक्तं समानीय पात्रे कुरुताऽशनम्। यावन्न शोभनः कालो जायते शिथिलात्मनाम् ॥८२॥ कालं मञ्जुलतां प्राप्ते पुनस्तपसि तिष्ठत। तद्वचोऽङ्गीकृतं सर्वैः मेघा गच्छसाधुभिः ॥ ८३ ॥ इत्याचरन्तस्ते प्रापुः शैथिल्यं तु शनैः शनैः। कुमार्गनिरताः पुंसः किं न कुर्युः कदाग्रहाः ॥ ८४ ॥ इत्थं तु द्वादशाब्देषु गतेषु दुःखतः। सुवृष्टिः सुभिक्षैः सौख्यं सौभिक्ष्यं समजायत ॥ ८५ ॥ अथाऽऽचार्यो विशाखाख्यो दक्षिणापथात्। उत्तरापथमागच्छत्संघेनो गुणिनां वरः ॥८६॥ भद्रबाहुगुरोः स्थानं समागत्य सः। गुरोर्निषद्यकां तेन ववन्दे विनयान्वितः ॥ ८७ ॥ चन्द्रगुप्तिमुनिस्तेन वन्दितः

जने विशाखाचार्यको प्रणाम किया। उस समय विशाखाचार्यने मनमें विचारा कि श्रावकोंके विना ये यहां कैसे रहे होंगे? इसी विचारसे प्रति वन्दना भी न की। उस जगह श्रावकोंका अभाव समझकर उस दिन सब मुनियोंने उपवास किया। तब चन्द्रगुप्ति मुनिराज बोले—भगवन्! उत्तम २ लोगोंसे परिपूर्ण बड़ाभारी यहां एक नगर है। उसमें श्रावक लोग भी निवास करते हैं। वहां आप जाकर आहार करिये। चन्द्रगुप्ति मुनिके वचनोंसे सब साधुओंको आश्चर्य हुआ औरफिर वे भी वहीं पारणाके लिये गये। नगरमें पद २ में श्रावक लोगोंके द्वारा नमस्कार किये जाकर वे मुनि विधिपूर्वक आहार कर जब अपने स्थान पर आये उस समय नगरमें एक ब्रह्मचारी अपना कमण्डलु भूल आया था परन्तु जब वह फिर उसे लेनेके लिये गया तो वहां पर नगर न देखा किन्तु किसी वृक्षकी डाली पर कमण्डलु टँका हुआ उसे दीख पड़ा। उसे लेकर ब्रह्मचारी

सूरिसत्तमः। कथं श्राद्धं विनाऽऽास्थमेषेष प्रतिवन्दितः॥ ८८॥ तद्दिने मुनिभिः सर्वैरुपवासं कृतं शुभम्। सागाराभावमभ्यानैश्चन्द्रगुप्तिस्ततोऽलपत्॥ ८९॥ भगवन्! भूरिसागारं नगरं नागरैर्भृतम्। विद्यते विपुलं तत्र क्रियतां कायसंस्थितिः॥९०॥ साश्चर्यहृदयास्ते तत्पारणार्थं प्रपेदिरे। सकलैर्वरश्राद्धैर्वन्द्यमानाः पदे पदे॥९१॥ विधाय विधिनाऽऽहारमाजग्मुस्ते निजाश्रयम्।तत्रैकां कुण्डिकां वर्णी विस्मृतो वरपत्तने॥ ९२॥ स गतस्तां पुनर्लातुं नेक्षते तत्र तत्पुरम्। कुण्डिकां शाखिशाखास्यां व्यलोकिष्टैव केवलम्॥ ९३॥ आदाय तां तदा वर्णी प्राप्य तद्गुरुमालपत्।

गुरुके पास आया और वह आश्चर्य जनक समाचार ज्योंका त्यों कह सुनाया। विशाखाचार्य भी इस वृत्तान्तको सुनकर मनमें विचारने लगे।

अहो! यह चन्द्रगुप्ति मुनि शुद्ध चारित्रका धारक है। मैं तो निश्चयसे यही समझता हूं कि–इसीके पुण्यप्रतापसे देवता लोगोंने यह नगर रचा था। इस प्रकार शुद्ध चारित्रके धारक चन्द्रगुप्तिमुनिकी प्रशंसा कर उन्हें वहांका सब उदन्त कह सुनाया। और फिर प्रति वन्दना कर कहा कि देवता लोगोंके द्वारा कल्पना किया हुआ आहार साधुओंको लेना उचित नहीं है। इसलिये सब को प्रायश्चित लेना चाहिये। विशाखाचार्य-के कहे अनुसार चन्द्रगुप्ति मुनिराजने प्रायश्चित लिया। और उसी समय सारे संघने भी स्वामीसे प्रायश्चित लिया। इसकेबाद–पापरूपी मेघोंके नाश करनेके लिये वायुके समान, उत्तम २ चरित्रके धारक साधुओंमें प्रधान, सूर्यके समान तेजस्वी तथा विशुद्ध ज्ञानके अद्वितीय

तदद्भुतं निशम्यासौ चिन्तयामास मानसे ॥ ९४ ॥ एवं विशुद्धचारित्रश्चन्द्र-गुप्तिर्महामुनिः । तदीयपुण्यतो नूनं देवैः [illegible] ॥ ९५ ॥ [illegible] प्रशस्याशेषसाधूनां [illegible] । [illegible] ॥ १०६ [illegible] न योग्यो यतीनां [illegible] ॥ [illegible] ॥ ९६ ॥ [illegible] ॥ ९७ ॥

[illegible]

स्थान श्रीविशाखाचार्य साधुओंके सङ्घके साथ २ दक्षिण देशकी ओरसे विहार करते हुये ऊज्जयिनी नगरीमें आकर फलफूलादिसे समृद्ध उसके उपवनमें ठहरे ।

निरन्तर सिद्धभगवानका ध्यान करनेवाले, अज्ञान रूप अन्धकारके समूहका विध्वन्स करने वाले तथा विशुद्धचारित्रके धारक श्रीभद्रबाहु रूप सूर्यके लिये अपने मनोभिलषित स्वाभाविक सुखकी समुपलब्धिके लिये बारम्बार अभिवन्दन करता हूं । इस श्लोकमें श्रीभद्रबाहु स्वामीको सूर्यकी उपमा दी है क्योंकि सूर्य भी निरन्तर आकाशमें रहता है अन्धकारका नाश करने वाला होता है तथा निष्कलङ्क होता है ।

इति श्री रत्ननन्दि आचार्यविरचित भद्रबाहु-चरित्रमें द्वादश वर्ष पर्यन्त दुर्भिक्ष तथा विशाखाचार्यके दक्षिण देशसे आगमनका वर्णन वाला तृतीय अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

फलितनगनिवेशे तत्पुरोद्यानदेशे मुनिवरगणपूर्णः सूरिवर्योऽवतीर्णः ॥ ९९ ॥

निरन्तरानन्तपताश्रवृत्तिं
निरस्तदुर्बोधतमोवितानम् ।
श्रीभद्रबाहूष्णकरं विशुद्धं
विवंदमीमीहितशातसिद्ध्यै ॥ ९९ ॥

इति श्रीभद्रबाहुचरित्रे श्रीरत्ननन्द्याचार्यविरचिते द्वादशवर्षदुर्भिक्षविशाखाचार्यगमनवर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ परिच्छेद ॥ ४ ॥

जब स्थूलाचार्यने—सुना कि श्री विशाखाचार्य समस्त सङ्घ सहित दक्षिण देशसे मालव देशकी ओर आये हुये हैं तो उनके देखनेके लिये अपने शिष्योंको भेजे । शिष्य भी स्वामीके पास जाकर भक्ति पूर्वक उनकी वन्दना की । परन्तु श्रीविशाखाचार्यने उनलोगोंके साथ प्रति वन्दना न की और पूछा कि—मेरे न होते हुये यह कौन दर्शन तुम लोगों ने ग्रहण किया है ?

शिष्य लोग श्रीविशाखाचार्यके वचनोंको सुनकर लज्जित हुये और उसी समय जाकर सब वृत्तान्त अपने गुरुसे कह सुनाया । उस समय रामल्य स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य अपने २ सङ्घके सब साधुओंको बुलाकर उनसे कहने लगे—कि हम लोगोंको अब क्या करना

ॐ

चतुर्थः परिच्छेदः ।

स्थूलाचार्याभिधानोऽथ [illegible] । विशाखाचार्यमाचा-र्यपादैर्विजयाद्दिशः ॥ १ ॥ तं द्रष्टुं प्रेषिताः शिष्या नमस्ते गुरुभक्तितः । तदाऽसौ वन्दितः सर्वैर्मुनिभिर्भक्तितत्परैः ॥ २ ॥ [illegible] न प्रति-वन्दना । किमिदं दर्शनं नूतनं [illegible] भाषितम् ॥ ३ ॥ [illegible] ख्यातुं तद्गुरुं ययुः । रामल्लस्थूलभद्राख्यौ स्थूलाचार्यस्तदैकशः ॥ ४ ॥ एकीभूय [illegible] ते मिथो जगुः । किं कर्तव्यम् [illegible]

चाहिये ? तथा ऐसी कौन स्थिति है जिससे हमें सुख होगा ? उस वक्त विचारे वृद्धस्थूलाचार्यने कहा—साधुओं ! मनोभिलषित सुख देने वाले मेरे कहने पर जरा ध्यान दो।

श्रीजिनभगवानके कहे हुये मार्गका आश्रय ग्रहण कर शीघ्र ही इस बुरे मार्गका परित्याग करो। और मोक्षकी प्राप्तिके लिये छेदोपस्थापना लेओ। स्थूलाचार्यके कहे हुये हितकर वचन भी उन लोगोंको अनुराग जनक न हुये। ग्रन्थकार कहते हैं यह ठीक है कि—जो लोग पित्तज्वरग्रसित होते हैं उन्हें शर्करा भी कड़वी लगती है। उस समय और २ मुनि लोग यौवनके घमण्डमें आकर बोले-महाराज! तुमने कहा तो है परन्तु ऐसा कहना तुम्हें योग्य नहिं। क्योंकि—इस विषम पञ्चम कालमें क्षुधा पिपासादि दुस्सह बावीस परीषहोंको तथा अन्तरायादिकों कोन सहैगा ? मालूम होता है कि अब आप वृद्ध होगये हैं इसीसे

सुखप्रदा ॥ ५ ॥ स्थूलाचार्यस्तदा वृद्धो व्याजहार वचो वरम्। शृणुध्वं मामिकां वाचं साधवोऽभीष्टसौख्यदाम् ॥ ६ ॥ जिनोक्तमार्गमाश्रित्य हित्वा कापथमञ्जसा कुरुध्वं शिवसंसिद्ध्यै छेदोपस्थापनं परम् ॥ ७ ॥ न तेषां तद्वचः प्रीत्यै साधूनां हितमप्यभूत। पित्तज्वरवतां किं न सितापि कटुकायते ॥ ८ ॥ ततोऽन्ये मुनयः प्रोचुर्यौवनोद्धतहृदयः। यदुक्तं त्वया सूरे! तत्ते वक्तुं न युज्यते ॥ ९ ॥ यतोऽत्र विषमे काले द्वाविंशतिपरीषहान्। क्षुत्पिपासाऽन्तरायादीन्कः सहेताऽतिदुस्सहान् ॥ १० ॥ भवन्तः स्थविराः किंचिन्न विदन्ति शुभाऽशुभम्। सुखसाध्य-

अच्छे बुरेको नहिं जानते हैं। भला यह तो कहो कि-ऐसे सुखसाध्य मार्गको छोड़कर कौन ऐसा होगा जो कठिन मार्गका आचरण करेगा ? फिर भी विचार स्थूलाचार्यने कहा—तुम यह निश्चय रक्खो कि—यह मत उत्तम नहिं है। इस समय तो किम्पाकफलके समान मनोहर मालूम देता है परन्तु आगे अत्यन्त ही दुःखका देने वाला होगा। जो लोग मूलमार्गको छोड़कर खोटे मार्गकी कल्पना करते हैं वे संसार रूप वनमें भ्रमण करते हैं। जैसे मारीचादिने कुमार्ग चलाकर चिर काल पर्यन्त संसार में पर्यटन किया। यह मार्ग कभी मुक्तिप्रद नहिं हो सकता किन्तु उदर भरनेका साधन है। जब स्थूलाचार्यके ऐसे वचन सुने तो कितने भव्य साधुओंने तो उसी समय मूलमार्ग (दिगम्बर मार्ग) स्वीकार कर लिया और कितने मुनि महाक्रोधित हुये। यह ठीक है कि शीतल जलसे भी क्या गरम तेल प्रज्वलित नहिं होता ? किन्तु अवश्य होता ही है ॥७-१५॥

मिमं मार्गमुत्सृज्य कः दुष्करं चरेत् ॥ ११ ॥ स्थूलाचार्येणतः प्रोक्तं नेदर्शन-मुत्तमम् । किंपाकफलसदृशमनुभवेत्येते दुःखदम् ॥ १२ ॥ मूलमार्गं परित्यज्य कुपथं कल्पयन्ति ये । भ्रमन्ति ते भवारण्ये मरीच्यादि यथा पुरा ॥ १३ ॥ नायं मार्गो भवेन्मुक्त्यै परं स्वोदरपूरणं । केचित्तच्छ्रुत्वा भव्या मूलमार्गं प्रपेदिरे ॥१४॥ केचित्तच्छ्रुत्वा एतापि मुनयः कोपमानसाः । आज्वलति न किं तप्तं तैलं शीत-

तब वे क्रोधी मुनि बोले—यह बुड्ढा है क्या जानता है जो ऐसा बिना विचारे बोलरहा है। अथवा यों कहिये कि वृद्धावस्थामें बुद्धि के भ्रमसे विक्षिप्त होगया है। और जबतक यह जीता रहेगा तबतक हमलोगोंको सुख कहां? ऐसा विचार कर पात्माओंने स्थूलाचार्यके मारनेका संकल्प किया। और फिर अत्यन्त कुपित होकर उन दुष्ट तथा मूर्खोंने निर्विचारसे विचारे स्थूलाचार्यको डंडों डण्डोंसे मारकर वहीं पर एक गहरे खड्डेमें डाल दिया। नीतिकार कहते हैं कि यह ठीक है—खोटे शिष्योंको दी हुई उत्तम शिक्षा भी दुष्टोंके साथ मित्रताकी तरह दुःख देने वाली होती है।

उस समय स्थूलाचार्य आर्त्तध्यानसे मरण कर व्यन्तर देव हुआ और अवधिज्ञानसे अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तको जानकर उन मुनि धर्माभिमानियोंके ऊपर—जैसा उपद्रव पहले तुमने मेरे ऊपर किया था वैसा ही उपद्रव

म्युनापि हि ॥ १५॥ कुपितास्ते वदा प्रोचुर्वर्षीयानेष वेत्ति किम्। वचीत्थं वातुली-भूतो वार्धिक्ये वा मतिभ्रमात् ॥ १६ ॥ वृद्धोऽयं यावदत्रास्ति तावन्नो न सुख-स्थितिः। इति संचिन्त्य ते पापास्तं हन्तुं मतिमादधुः ॥१७॥ दुष्टैश्चण्डैः शिष्यैर्मौण्डै-र्दण्डैर्दण्डैर्हतो हठात्। जीर्णाचार्यस्ततो क्षिप्तो गर्ते कूटेन तत्र तैः ॥ १८ ॥ कुशिष्याणां हि शिक्षाऽपि खलमैत्रीव दुःखदा। मृत्वाऽऽर्त्तध्यानतः सोऽपि व्यन्तरः समजायत ॥ १९ ॥ विदित्वाऽवधिबोधेन देवोऽसौ पूर्वसंभवम्। चकार मुनिमन्या

मैं भी अब तुम्हारे ऊपर करूंगा ऐसा कहते हुआ—धूलि पत्थर तथा अग्नि आदिकी वृष्टिसे घोर उपद्रव करने लगा ॥ १६ ॥ २१ ॥

तब साधुलोग अत्यन्त भय भीत होकर व्यन्तरसे प्रार्थना करने लगे—देव ! हमारा अपराध क्षमा करो। यह हमलोगोंने मूर्खतासे किया था । देव बोला— यही यदि तुम्हें इच्छित है तो जब तुमलोग इस कुमार्ग को छोड़कर यथार्थ मार्गको ग्रहण करोगे तबही तुम्हें उपद्रव रहित करूंगा। देवके वचन सुनकर साधुओंने कहा—तुमने कहा सो तो ठीकहै परन्तु मूलमार्ग (निर्ग्रन्थमार्ग) को हमलोग धारण नहीं कर सकते । क्योंकि वह अत्यन्त कठिन है। किन्तु आप हमारे गुरु हैं इस लिये भक्तिपूर्वक आपकी निरन्तर पूजन करते रहेंगे। इस प्रकार अत्यन्त विनयसे उस क्रोधित व्यन्तरको शान्त करके गुरुकी हड्डियें लाये और उसमें गुरुकी कल्पना की। आजभी लोकमें हड्डियें पूजी जाती हैं

नो निवरां कृपद्रवम् ॥ २० ॥ रेणूपलादिवर्षाद्यं दर्शयति प्रचोभवम् । [illegible] विचार्य्य यो यथा मे विहितं पुरा ॥ २१ ॥ [illegible] ॥ २२ ॥ [illegible] ॥ २४ ॥ [illegible] ॥ २४ ॥ [illegible] ॥ २५ ॥ [illegible]

०

तथा नमस्कार की जाती हैं और उनमें क्षपण (मुनि) की हड्डीकी कल्पना होनेसे "खमणादिहडी" व्रत भी उसी दिनसे चलपड़ा है। इसके बाद उसकी शान्तिके ही लिये आठ अंगुल लम्बी तथा चार अंगुल चौड़ी एक लक्कड़की पट्टी बनाकर यह वही गुरु हैं ऐसी कल्पना कर उसे पूजने लगे। इस प्रकार यथायोग्य उसकी स्थापना करके भयभीत अर्द्धफालक लोगोंने जब पूजना आरम्भ किया तब उसने उपद्रव करना बन्द किया। फिर धीरे२ इसी तरह पुजाता हुआ वह देव पर्युपासन नामक कुलदेवता कहलाने लगा। सो आजभी जल-गन्धादि द्रव्योंसे पूजा जाता है। वही आश्चर्य जनक अर्द्धफालक मत कलियुगका बल पाकर आज सब लोगोंमें फैल गया। जैसे जलमें तैलकी बिन्दु फैल जाती है॥ २२-३०॥

यह अर्द्धफालक दर्शन जिन भगवानके वास्त-विक सूत्रकी विपरीत कल्पना करके विचारे मूर्खलोगोंको

णादिहड्डीत्याख्यं क्षपणास्थिप्रकल्पनात्॥२६॥ तथा तच्छान्तये काष्ठपट्टिकाऽष्टाङ्गुलायता। चतुरस्रा स एवायमिति संकल्प्य पूजिता॥ २७॥ यथाविधि परिस्थाप्य पूजितः सोऽर्द्धफालकैः। परित्यक्तं ततस्तेन चेष्टितं विक्रियामयम्॥२८॥ पर्युपासननामाऽसौ कुलदेवोऽभवत्ततः। भक्त्या महीयतेऽद्यापि वारिगन्धाक्षतादिकैः॥ २९॥ मतोऽर्द्धफलकं लोके व्यानसे मतमद्भुतम्। कलिकालबलं प्राप्य सलिले तैलबिन्दुवत्॥३०॥ श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रस्य सूत्रं संकल्प्यतेऽन्यथा। वर्तयन्ति स्म दुर्मार्गे जना-

खोटे मार्गमें फँसाता है। जिसप्रकार इन इन्द्रियोंके वशवर्त्ति लोगोंने स्वयं ही मत धारण किया उसी तरह जिन भगवानके सूत्रकी भी अपनी बुद्धिके अनुसार मिथ्या कल्पना की ॥ ३१-३२ ॥

इसी तरह बहुत काल बीत जाने पर उज्जयिनीमें चन्द्रकीर्त्ति नामका राजा हुआ। उसके लक्ष्मीकी समान चन्द्रश्री नामकी पट्टरानी तथा उन दोनोंमें रूपलावण्यादि गुणोंसे सुशोभित चन्द्रलेखा नामकी उत्तम एक कन्या हुई। उसने उन कुपथगामी अर्द्धफालक साधुओंके पास शास्त्र पढ़ा।

सौराष्ट्र (सोरठ) देशमें उत्तम वलभीपुर नाम पुर था। उसका—अपने तेजसे समस्त शत्रुओंको सन्तापित करने वाला तथा नीति शास्त्रका जानने वाला प्रजापाल नामका राजा था। उसके—सुन्दर २ लक्षणोंसे सुशोभित प्रजावती नामकी रानी थी। उन दोनोंमें सुन्दर

न्मार्गमाश्रितान् ॥ ३१ ॥ यथा स्वयं समारब्धं मतं पाखण्डिभिः । निरङ्कुशैस्तथा सूत्रे सूचितं निजबुद्धितः ॥ ३२ ॥ एवं बहुतरे काले [illegible] पुरे उज्जयिन्यां विशांनाथश्चन्द्रकीर्तिनामकः ॥ ३३ ॥ चन्द्रश्रीः [illegible] न्याता तस्याग्रमहिषी शुभा। तयोश्चन्द्रलेखाख्या [illegible] ॥३४॥ साऽभ्यासे मुनिमन्यानां शास्त्राणि समपाठयत् । [illegible] गुणान्विता ॥३५॥ सौराष्ट्रविषयेऽप्यासीन्वलभीपुरमुत्तमम् । [illegible] प्रजापाल-नाम्ना तत्र नयान्वितः ॥ ३६ ॥ [illegible] प्रजावती

गुणोंका धारक, रूपसौभाग्य लावण्यादिसे युक्त तथा ज्ञान विज्ञानका जानने वाला लोकपाल नामका पुत्र था ॥ ३३-३८ ॥

प्रजापालने—अपने पुत्रके लिये गुणोंसे उज्वल चन्द्रकीर्त्तिकी—नव यौवनवती चन्द्रलेखा पुत्रीके लिये प्रार्थना की। लोकपालभी चन्द्रलेखाके साथ विवाह करके उसके साथ नाना प्रकारके उपभोगोंको भोगने लगा। जैसे शचीके साथ इन्द्र अनेक प्रकारके भोगोंको भोगता रहता है। पश्चात् धीरे २ शुभोदयसे अपने पिताके विशाल राज्यको पाकर चन्द्रलेखाको अपनी पट्टरानी बनाई। और फिर समस्त राजा लोगोंको अपने शासनकी आधीनतामें रखकर रानीके साथ उपभोग करता हुआ राज्यका निर्भय पालन करने लगा ॥ ३९-४२ ॥

किसी समय जब चन्द्रलेखाने स्वामीको प्रसन्नचित्त

गिरा राज्ञी तस्याऽऽसीच्चारुलक्षणा ॥ ३७ ॥ लोकपालाभिधस्तोकस्तयोर्ज्ञातगुणोऽभवत् । रूपसौभाग्यसम्पन्नो ज्ञानविज्ञानपारगः ॥ ३८ ॥ प्रजापालः स्वपुत्रार्थं चन्द्रकीर्त्तिनृपात्मजाम् । प्रमोदात्प्रार्थयामास चन्द्रलेखां गुणोज्वलाम् ॥ ३९ ॥ उपयम्य कुमारोऽसौ तां कन्यां नवयौवनाम् । बोभुजीति तया भोगान् शच्या वा सुरनायकः ॥४०॥ क्रमात्संप्राप्य पुण्येन प्राज्यं राज्यं पितुर्मुदा । चकार चन्द्रलेखां तां सद्मममहिषीपदे ॥ ४१॥ लोकपालो नृपः सार्धं कुर्वन्नामात्मनो भृशम् । विधत्ते विशदं राज्यं नताऽशेषमहीपतिः ॥ ४२ ॥ एकदाऽनन्दचित्तोऽसौ राज्या विज्ञापितो

देखा तो प्रार्थना की। नाथ! मेरे गुरु उज्जयिनी पुरी में हैं। उन जगत्पूज्य गुरुओंको मेरे कहनेसे आप अवश्य बुलवें। राजाने इस भयसे कि कहीं यह असन्तुष्ट न होजाय इसलिये उसके वचनोंको स्वीकार किये। और उनके लिवानेके लिये अपने लोगोंको भेजे। वहां जाकर उन लोगोंने गुरुओंको भक्ति पूर्वक नमस्कार किया और वलभीपुर चलनेके लिये प्रार्थना की। उनकी बार २ प्रार्थनासे तथा विनयसे जिनचन्द्रादि अर्द्धफालक वल्भीपुरमें आये। जब राजाने उन लोगोंका आगमन सुनातो बहुत आनन्दित होकर–सामन्त मंत्री पुरवासी तथा परिवारके लोगोंके साथ २ गीत नृत्य संगीतादिके उत्तम शब्दसे दशों दिशाओंको परिपूर्ण करता हुआ उनकी वन्दनाके लिये नगरसे निकला। और दूरहीसे साधुओंको देखकर मनमें विचारने लगा–

नृपः । नाथाऽस्मद्गुरवः सन्ति [illegible] ॥ ४३ ॥ तानानायय देवेन जगत्पूज्यान्मदाग्रहात् । प्रियाप्रियस्तथा भूपस्तद्वचो मानयन्मुदा ॥ ४४ ॥ तानानेतुं प्रेषयामास सैन्याऽऽशीघ्रमसज्जनान् । तत्र गत्वा नृपं भक्त्या गुरून्नत्वा [illegible] ॥ ४५ ॥ तैः समभ्यर्थिता भूयो विनयादर्शकान्वयाः । जिनचन्द्रादयः प्रभुं वलभीपुरमैदनम् ॥ ४६ ॥ आगत्यांऽऽगमनं [illegible] । [illegible] निःससाराशु परानन्दपुलकितः ॥ ४७ ॥ गीतवादित्रनृत्यादिशब्दपूरितदिङ्मुखम् । सामन्तामात्यपौरस्वपरिवारपरिच्छदः ॥ ४८ ॥ विलोक्य दूरतः साधून्स्वमानसे-

अहो ! लोकमें अपनी विटम्बना करने वाला तथा निन्दनीय यह कौनमत प्रचलित हुआ है ? नग्न होकरभी वस्त्रयुक्त तो कोई साधु नहिं देखे जाते हैं। इसलिये इनके पास जाना योग्य नहीं है। ऐसे नूतन मतका आविष्कार देखकर राजा शीघ्रही उस स्थानसे लौटकर अपने मकान पर आगया। तब रानीने राजाके हृदय-का भाव समझ कर गुरुओंकी भक्तिसे उनके लिये वस्त्र भेजे। साधुओंने भी उसके कहनेसे वस्त्रोंको ग्रहण किये। उसके बाद–राजाने उन साधुओंकी भक्तिपूर्वक पूजनकी तथा सन्मान किया। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बात ठीक है कि–स्त्रियोंके रागमें अनुरक्त हुये पुरुष क्या २ अकार्य नहिं करते हैं ?

उसी दिनसे श्वेतवस्त्रके ग्रहण करनेसे अर्द्धफाल कमतसे श्वेताम्बर मत प्रसिद्ध हुआ। यह मत महाराज विक्रम नृपतिके मृत्युकालके १३६ वर्षके बाद लोकमें

त्यचिन्तयत्। किमेतद्दर्शनं निन्द्यं लोकेऽत्र स्वविडम्बकम् ॥ ४९ ॥ नग्ना वस्त्रेण संवीता नेक्ष्यन्ते यत्र साधवः। गन्तुं न युज्यते नोऽत्र नूत्नदर्शनदर्शनात् ॥ ५० ॥ व्याघुट्य भूपतिस्तस्मान्निजमन्दिरमेयिवान् । ज्ञात्वा राज्ञी नरेन्द्रस्य मानसं सहसा स्फुटम् ॥ ५१ ॥ गुरूणां गुरुभक्त्या सा प्राहिणोत्सिचयोच्चयम्। तैर्गृहीतानि वासांसि मुदा तानि तदुक्तितः ॥ ५२ ॥ ततस्ते भूभृता भक्त्या पूजिता मानिता भृशम्। किमकार्यं न कुर्वन्ति रामारागेण रञ्जिताः ॥ ५३ ॥ धृतानि श्वेतवासांसि तद्दिना-त्समजायत। श्वेताम्बरमतं ख्यातं ततोऽर्द्धफालकमतात् ॥ ५४ ॥ मृते विक्रमभूपाले षट्त्रिंशदधिके शते। गतेऽब्दानामभूल्लोके मतं श्वेताम्बराभिधम् ॥ ५५ ॥ भुनक्ति

प्रादुर्भूत हुआ है। फिर उस मूर्ख जिनचन्द्रने-जिन प्रतिपादित आगमसमूहको केवली भगवान कवलाहार करते हैं, स्त्रियोंको तथा सग्रन्थमुनि लोगोंको उसी भवमें मोक्ष होता है और महावीर स्वामीके गर्भका अपहरण होना इत्यादि प्रतिकूल रीतिसे वर्णन किया ॥ ४२ ॥ ५७ ॥ परन्तु यह कथन प्रत्यक्ष बाधित है इसेही सिद्ध करते हैं। जिसे अनन्त सुख है उसके आहारकी कल्पनाका संभव मानना ठीक नहिं है। यदि कहोगे कि केवलीके कवला आहार है तो उसके अनन्त सुखका व्याघात होगा। क्योंकि आहार तो क्षुधाके लगने पर ही किया जाता है और केवली भगवानके तो क्षुधाका अभाव रहता है। क्षुधाके अभावमें आहारकी भी कोई आवश्यक्ता नहिं दीखती। यह है भी तो ठीक-जैसे मूलका नाश होजाने पर वृक्ष किसीतरह नहीं बढ़ सकता। उसी तरह क्षुधाका अभाव होजानेसे आहार करना भी नहिं माना जासकता। यदि फिरभी आहारकी कल्पना की जाय तो जिन भगवानके शरीरमें सदोषता आती है ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

केवलज्ञानी [illegible] [illegible] स्त्रैणं। [illegible] ॥ ५६ ॥
इत्यागमसन्दोहं विपरीतं विनिर्मितम्। [illegible] जिनचन्द्रेण [illegible]
॥ ५७ ॥ अनन्तसौख्यस्य यस्य न [illegible]
व्याघातोऽनन्तसौख्यस्य ॥ ५८ ॥ [illegible]
इति हेतोः सदोषत्वं जिनेशस्य [illegible] ॥ ५९ ॥ [illegible]

ये बुभुक्षा आदितो वेदनीय कर्मके सद्भावमें होती हैं और जिन भगवानके मोहनीय कर्मका नाश होजानेसे वेदनीय कर्म अपना कार्य करनेमें शक्ति विहीन (असमर्थ) है। जैसे जली हुई रस्सी बन्ध-नादि कार्यके उपयोगमें नहिं आसकती । इसलिये केवली भगवानके दोषप्रद कवला आहारकी कल्पना करना अनुचित है। और मोहमूल ही वेदनीय कर्म क्षुधादि-वेदनाका देने वाला होता है। जिन भगवानके मोहनीय कर्मका नाश होजानेसे वेदनीय कर्म अपना कार्य नहिं कर सकता जैसे मूल रहित वृक्ष पर फल पुष्पादि नहिं हो सकते। भोजन करनेकी इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं और वह मोहसे होती है और मोहका जिन भग-वानके जब नाश हो गया है तो क्योंकर आहार की कल्पनाका संभव माना जाय ? ॥ ६०—६४ ॥

उसेही स्फुट करते हैं—

जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें विरक्त हैं तीन

वेद्यकर्मणः । भुक्तिः केवलिनां तस्मान्न युक्ता दोषदायिनी ॥ ६० ॥ क्षीणमोहे जिने वेद्यं स्वकार्यकरणेऽक्षमम् । स्वकीयशक्तिरहितं दग्धरज्जुवदञ्जसा ॥ ६१ ॥ मोहमूलं भवेद्वेद्यं क्षुधादिफलकारकम् । तदभावेऽक्षमं वेद्यं छिन्नमूलतरुर्यथा ॥ ६२ ॥ भोक्तु-मिच्छा बुभुक्षा स्यात्सेच्छापि मोहसंभवा । तद्विनाशे जिनेन्द्रस्य कथं स्याद्भुक्तिसंभवः ॥ ६३ ॥ तद्यथा ॥ विरक्तस्येन्द्रियार्थेषु गुप्तित्रितयमीयुषः । मुनेः संजायते ध्यानं कर्ममर्मनिबर्हणम् ॥ ६४ ॥ ध्यानात्साम्यरसः शुद्धस्तस्मात्स्वात्मावबोधनम् ।

गुप्तिके पालन करने वाले हैं ऐसे साधुओंके कर्मोके नाश करने वाले ध्यानकी सिद्धि होती है ध्यानसे शुद्ध शान्तरसका समुद्भव होता है शान्तरससे आत्म-ज्ञान होता है और फिर उसी आत्मावबोधसे मोहनीय कर्मका नाश करके साधु लोग क्षीणमोही होकर और शुक्लध्यान रूप खड्गके द्वारा चार घातिया कर्मोका नाश करके जब केवली होते हैं तो क्षुधा तृषादि अठारह दोषोंसे रहित अनन्त सुख रूप पीयूषके पानसे सन्तुष्ट तथा लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञानके धारक ऐसे केवली भगवान आहार क्यों कर सकते हैं? यदि ये क्षुधादि दोष जिन भगवानमें माने जावें तो दोष रहित शुद्ध स्वरूप जिनदेव फिर वीतराग कैसे कहे जासकेंगे?

कदाचित कहो कि—जिस तरह भोजन करते हुये उदासीन साधुओंके वीतरागता बनी रहती है तो केवली भगवानके क्योंकर न रहेगी?

छिन्दन्ति [illegible] मुनीनां ॥ १५ ॥ [illegible] पानित्रयमव्ययम् । [illegible] ॥ १६ ॥ [illegible] [illegible] ॥ १७ ॥ [illegible] ॥ १८ ॥ [illegible] ॥ १९ ॥ [illegible]

परन्तु यह कहना बुद्धिमानोंका नहीं है किन्तु विक्षिप्त पुरुषोंका केवल प्रलाप है। मुनियोंके आहार करनेसे वीतरागताका अभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें केवल उपचार (कथनमात्र) से वीतरागता है

कदाचित्कहो कि—आहारके विना शरीरकी स्थिति कहीं पर नहीं देखी जाती है इसीलिये केवली भगवानके आहारकी कल्पना अनुचित नहीं है॥ ६७-७१॥ यह कथनभी अवाधित नहीं है। सोही स्फुट किया जाता है—नोकर्म आहार (१) कर्म आहार (२) कवलाहार (३) लेप आहार (४) उजाहार (५) मानस आहार (६) ऐसे आहारके छह विकल्प हैं। तो अब यह कहो कि—शरीर धारियोंके शरीरकी स्थितिका कारण कवलाहार ही है या और से भी शरीरकी स्थिति रह सकती है? हम लोग तो कर्मनोकर्म आहारके ग्रहणसे केवली भागवानके शरीरकी स्थिति मानते हैं। कदाचित्कहो कि—शरीरकी स्थिति कवलाहार ही से है तो

पिणाम्। यतस्तत्रोपचारेण वीतरागत्वकल्पना ॥ ७० ॥ तनुस्थितिर्नचाऽऽहारं विना क्वापीह दृश्यते। केवलज्ञानिभिस्तस्मादाहारो गृह्यतेऽनिशम् ॥७१॥ नोकर्म कर्म नामा च कवलो लेपनाम भाक्। उजश्च मानसाऽऽहार आहारः षड्विधो मतः॥७२॥ देहिनामेवमाहारस्तनुसंस्थितिकारणम्। तन्मध्ये कवलाहाराद्वन्यस्माद्वा तनुस्थितिः ॥७३॥ कर्मनोकर्मकाऽऽहारग्रहणाद्देहसंस्थितिः। भवेत्केवलिनां चैतत्सम्मतं नो मते स्फुटम् ॥ ७४ ॥ आहोस्वित्कवलाहारपूर्विकाङ्गस्थितिर्भवेत्। त्वयैवं कथ्यते तत्र संसिद्धा

भी व्यभिचार आता है। क्योंकि एकेन्द्री जीवोंके लेप आहारका संभव है, देवताओंके मानसाहार होता है और पक्षियोंके उजाआहार होता है। यही बात दूसरे ग्रन्थों में भी लिखी है—

" केवली भगवानके नोकर्म आहार होता है, नारकियोंके कर्म आहार होता है, देवताओंके मानस आहार होता है, पक्षियोंके ऊजाआहार होता है तथा एकेन्द्रियोंके लेप आहार होता है।"

इसलिये स्वप्नमें भी बुद्धिमानोंको केवली भगवानके लिये कवलाहारकी कल्पना करना योग्य नहीं है। अथवा दूसरी यह भी बात है कि उनके आहारकी भी कल्पना केवल वेदनीय कर्मके सद्भाव होनेसे मानी जाती है ॥७३–७८॥ अस्तु वह रहे परंतु यह तो कहो कि—जब केवली भगवान सर्व लोकालोकके देखने जानने वाले हैं तो संसारमें नाना प्रकारके जीवोंका वध देखते हुये कैसे भोजन कर सकते हैं? अथवा जिन भगवान भी अल्पज्ञानी लोगोंकी तरह शुद्ध तथा अशुद्ध भोजन करेंगे क्या? और यदि अन्तरायोंके होते हुये भी भोजन करेंगे तो केवली भगवानके श्रावकोंने

व्यभिचारिता ॥७७॥ [illegible]
हार [illegible] ॥७८॥ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

भी अत्यन्त निन्दनीय हीनता ठहरेगी। उनके आहार की भी कल्पना केवल वेदनीय कर्मके सद्भाव होनेसे मानी जाती है ॥७२—७८॥

अरे! मांस रक्त आदि अपवित्र वस्तुओंको देखते हुये भी यदि केवली भगवान आहार करें तो फिर तो यों कहिये कि जिन भगवानने अपने सर्वज्ञपनेको जलाञ्जलि दे दी। तौभी केवली भगवान कवला आहार करते हैं ऐसा जो लोग कहते हैं समझिये कि वे निर्लज्ज हैं खोटे मतरूपी मदिराके मदमें चकनाचूर हो रहे हैं ॥७९-८२॥ इस प्रकार केवली भगवानके कवला आहारका प्रतिषेध किया गया। उसी तरह जो लोग स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष प्राप्त होना कहते हैं समझिये कि—वे लोग दुराग्रह रूप पिशाचके वशवर्त्ति हैं। अथवा यो कहिये कि वे विक्षिप्त होगये हैं। यदि स्त्रियें अत्यन्त घोर तपश्चरण भी करैं तौभी उस जन्ममें उन्हें मोक्ष नहीं हो सकता ॥ ८३—८४ ॥

किम् ॥ ७९ ॥ अभावेनाऽन्तरायाणां कुरुते यदि भोजनम्। आद्येभ्योऽप्यतिहीनत्वमाप्नुयात्तर्हि गर्हितम् ॥ ८० ॥ विलोक्य मांसरक्तादीनान्तरायान्करोति च। तदा सर्वज्ञभावस्य तेन दत्तो जलाञ्जलिः ॥८१॥ केवली कवलाहारं करोतीति वदन्ति ये। तथापि ते न लज्जन्ते दुर्मताऽऽसवमोहिताः ॥ ८२ ॥

॥ इति केवलिभुक्तिनिराकरणम् ॥

अथ तस्मिन्भवे स्त्रीणां मोक्षं ये निगदन्ति ते दुराग्रहग्रहग्रस्ता जनाः किं वाऽतिवातुलाः ॥ ८३ ॥ तपोऽपि दुर्द्धरं घोरं कुरुते यदि योषितः। तथापि तद्भवे

कदाचित्कहो कि—निश्चयनयसे स्त्री और पुरुषोंके आत्मामें कुछ भी विशेषता न होनेसे उसी भवमें स्त्रियोंको मोक्षकी समुपलब्धि क्यों नहीं होसकती ? परन्तु यदि केवल तुम्हारे कथनानुसार सब जीवोंके सामान्य होने ही से स्त्रियोंको मोक्षकी प्राप्ति मानली जावे तो चाण्डाली तथा धीवरी आदिकी स्त्रिये क्योंकर मोक्षमें नहीं जातीं ? क्योंकि ये भी तो स्त्रियें ही हैं न ? तथा स्त्रियोंके योनिस्थानमें प्रस्रवादिसे निरन्तर अशुद्धता बनी रहती है और महीने २ में निंद्यनीय रजोधर्म होता रहता है। स्तन कुक्षि तथा योनि आदि स्थानोंमें शरीर स्वभावसे ही सूक्ष्म अपर्याप्त मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं। स्त्रियोंकी प्रकृति (स्वभाव) बुरी होती है। लिङ्ग अत्यन्तही निन्दित होता है उनके साक्षात्संयम (महाव्रत) भी नहीं हो सकता तो मोक्ष तो बहुत दूर है। दूसरे स्त्रीलिङ्ग तथा स्तनोंसे युक्त स्त्री रूपमें बनी हुई तीर्थंकरोंकी प्रतिमायें कहीं हो तो कहो ? इन

नूनं मुक्तिस्तस्याः दर्शनगी ॥ ८४ ॥ [illegible] ।
मोक्षाऽप्यामिन्नु नारीणां [illegible] ॥ ८५ ॥ [illegible]
[illegible] । [illegible] ॥ ८६ ॥ [illegible]
तथा नित्यं [illegible] । [illegible] ८७ ।
योनि[illegible] । [illegible]
[illegible] ॥ ८८ ॥ [illegible] । [illegible]
साक्षान्मुक्तिः [illegible] ॥ ८९ ॥ [illegible] ।

दोषोंसे स्त्रियोंको मोक्षकी संभावना नही मानी सकती। देखो! स्त्रियोंको चक्रवर्त्ति, नारायण, बलभद्र, मण्डलेश्वर आदि पद तथा श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान जब नहिं होते हैं, और उसीतरह गणधर, आचार्य, उपाध्याय आदि पद भी नहीं होते हैं तो उन्हींके त्रैलोक्य महनीय सर्वज्ञपनेका कैसे सद्भाव माना जाय ? इसलिये समझो कि—सुकुलमें पैदा हुआ, कुशल, संयमी, परिग्रह रहित तथा इन्द्रियोंका जीतने वाला पुरुष ही मुक्ति कान्ताके साथ परिणय कर सकता है ॥ ९०-९४ ॥

॥ इति स्त्री मुक्तिनिराकरणम् ॥

जो मूर्ख लोग निर्ग्रन्थ मार्गके विना परिग्रहके सद्भावमें भी मनुष्यों को मोक्षका प्राप्त होना बताते हैं उनका कहना प्रमाण भुत नहीं हो सकता। यदि परिग्रहके होने परभी मोक्षका होना ठीक मान लिया जावै तो कहो कि—भगवान आदिजिनेन्द्रने अपना प्रशस्त

विद्यन्ते विद्वाः क्वापि प्रतिमायोगिगधत ॥ ९० ॥ पक्षहानिर्न चेत्सन्ति सन्ति चेद्दण्डिमास्पदम्। इति दोषद्वयाघाती न स्त्रीणां शिवसंभवः ॥ ९१ ॥ चाक्रिकेशवरामाजमण्डलेशादिसत्पदम्। तथैव श्रुतकैवल्यं मनःपर्ययबोधनम् ॥९२॥ गणेशसूर्य्युपाध्यायपदं स्त्रीणां भवेन्न चेत्। कथं सर्वज्ञता तासां जगत्पूज्या घटामटेत्॥९३॥ ॥ कुलीनः कुशलो धीरः संयमी संगवर्जितः। निर्जिताक्षः पुमानेव वृणीते मुक्तिभामिनीम् ॥ ९४ ॥ ॥ स्त्रीमुक्तिनिराकरणम् ॥

निर्ग्रन्थमार्गमुत्सृज्य सग्रन्थत्वेन ये जडाः। व्याचक्षन्ते शिवं नृणां तद्वचो न भव्यमंजस् ॥ ९५ ॥ सग्रन्थत्वेन निर्वाणसाधनं यदि विद्यते। प्राज्यं राज्यं कथं

राज्य किस लिये छोड़ा ? उत्तम कुलमें समुत्पन्न, महाविद्वान तथा वज्रवृषभ-नाराच-संहननका धारक पुरुष भी यदि परीग्रही हो तो वह भी मोक्षमें नहीं जा सकता तो औरों की क्या कहैं ? इसलिये शिव सुखाभिलाषी साधुओंको—वस्त्र, कम्बल, दंड तथा पात्रादि उपकरण कभी नहिं ग्रहण करने चाहियें। क्योंकि वस्त्रोंके ग्रहण करनेसे उनमें लीखें तथा जूं आदि जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है और उनके धरने उठाने तथा धोने में जीवोंकी हिंसा होती है। दूसरे वस्त्रके लिये प्रार्थना करनेसे दीनता आती है और वस्त्र प्राप्त होने पर उसमें मोह होजाता है मोहसे संयमका नाश होता है तो उससे निर्मलता होना तो दुर्लभ हीं नहीं किन्तु नितान्त असम्भव है। इसलिये अन्तरग तथा बाह्य परिग्रहके त्यागयुक्त साक्षाज्जिनलिङ्ग ही श्लाघनीय हैं। और सम्यक्त युक्त जीवोंके शिव सुखका हेतु है ॥९५-१०१॥

कदाचित् यह कहो कि—जिनकल्प लिङ्गके बहुत

राज्यमादिदेवेन मुक्तं मे ॥ ९६ ॥ दुर्लभोऽपि महाविज्ञ [illegible] । [illegible]
निर्ग्रन्थता-भावान्न निर्वाति मुमुक्षुः ॥ ९७ ॥ [illegible] ।
साधुना नोपकरणं ग्राह्यं मोक्षकांक्षिणा ॥ ९८ ॥ [illegible]
यतो भवेत् । [illegible] ॥ ९९ ॥ [illegible]
प्रार्थनया दैन्यं स्यात् [illegible] । [illegible]
॥ १०० ॥ [illegible] । [illegible]
[illegible] ॥ १०१ ॥ [illegible] । [illegible]

कठिन तथा दुःसाध्य होनेसे हमलोगोंने स्थविर कल्प संयम धारण किया है। परन्तु जिनकल्प तथा स्थविरकल्पका लक्षण जबतक न समझ लो तबतक ऐसे मिथ्या वचनभी मत कहो। क्योंकि स्थविर कल्प भी तुम्हारे कथनानुसार परिग्रह सहित नहीं होता है।

अब पहले ही जिनकल्प संयमका लक्षण कहा जाता है---जिसके द्वारा मुनिराज मुक्त्यङ्गनाके आलिङ्गनके सुखका उपभोग कर सकते हैं। जो सम्यक्त्व रूप रत्नसे भूषित होते हैं, जिन्होंने इन्द्रियरूप अश्वोंको अपने वशमें कर लिये हैं, जो एकाक्षरके समान एकादशाङ्ग शास्त्रके जांनने वाले हैं, जो पांवोंमें लगे हुये कांटेको तथा लोचनोंमें गिरी हुई रजको न तो स्वयं निकालते हैं और न दूसरोंसे कहते हैं कि तुम निकाल दो, निरन्तर मौन सहित रहते हैं, वज्रवृषभ नाराच संहननके धारक होते हैं, गिरिकी गुहाओंमें वनमें पर्वतमें तथा नदियोंके

स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम् ॥ १०२ ॥ मावदैतद्वचोऽसत्यमज्ञात्वा लक्षणं तयोः। ततः स्थविरकल्पेऽपि नैवास्ति सङ्गसङ्गमः ॥ १०३ ॥

अथाऽभिधीयते तावज्जिनकल्पाख्यसंयमः। मुक्तिकान्तापरिष्वङ्गसौख्यं भुङ्क्ते यतो मुनिः ॥१०४॥ सम्यक्त्वरत्नसद्भूपा विजितेन्द्रियवाजिनः। विदन्त्येकादशाङ्गं ये श्रुतमेकाक्षरं यथा ॥ १०५ ॥ क्रमयोः कण्टकं भग्नं चक्षुषोः सङ्गतं रजः। स्वयं न स्फेटयन्त्यन्यैरपनीतमभाषणम् ॥ १०६ ॥ दधानाः सन्ततं मौनमाद्यसंहननाऽऽश्रिताः। कन्दर्या कानने शैले वसन्ति तटनीतटे ॥ १०७॥ षण्मासमवतिष्ठन्ते प्रावृट्कालेऽश्रि-

किनारेमें रहते हैं, वर्षाकालमें मार्गको जीवोंसे पूर्ण हो जाने पर छह मास पर्यन्त आहार रहित होकर कायोत्सर्ग धारण करते हैं, परिग्रह रहित होते हैं, रत्नत्रयसे विभूषित होते हैं, मोक्षके साधनमें जिनकी निष्ठा होती है, धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान हीमें निरत रहते हैं, जिनके स्थानका कोई निश्चय नहीं होता तथा जो जिन भगवानके समान विहार करने वाले होते हैं ऐसे साधुओंको जिन भगवानने जिन कल्पी साधु कहा है॥२-१०॥

और जो जिनलिङ्गके धारक होतेहैं, निर्मल सम्यक्त्व रूप अमृतसे जिनका हृदय क्षालित होता है, अट्ठाईस मूलगुणोंके धारण करने वाले होते हैं, ध्यान तथा अध्ययनमें ही निरत रहते हैं, पञ्च महाव्रतके धारक होते हैं, दर्शनाचार ज्ञानाचार प्रभृति पञ्चाचारके पालन करने वाले होते हैं, उत्तम क्षमादि दश धर्मसे विभूषित रहते है, जिनकी ब्रह्मचर्य व्रतमें निष्ठा (श्रद्धा)

सरित्कूले। जाते मार्गे निराहाराः कायोत्सर्गं समाश्रिताः॥ १०८॥ निर्ग्रन्था रत्नत्रयमण्डिताः। निर्वाणसाधने निष्ठाः शुक्लध्यानरताः सदा॥ १०९॥ [illegible] जिनवद्विहारिणः वै। [illegible] जिनकल्पाः [illegible]॥ ११०॥ अथ स्थविरकल्पा ये जिनलिङ्गधरा नराः। सुनिर्मल [illegible] सम्प्रीतचेतसः॥ १११॥ युक्ता मूलगुणैरष्टाविंशतिप्रमितैः शुभैः। ध्यानाध्ययन संलीना भृतपञ्च महाव्रताः॥ ११२॥ पञ्चाचाररता नित्यं दशधा धर्मभूषिताः। ब्रह्मचर्यव्रतेषु [illegible]॥ ११३॥ [illegible]

होती हैं, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे विरक्त होते हैं, तृणमें मणिमें नगरमें वनमें मित्रमें शत्रुमें सुखमें तथा दुःखमें सतत समान भावके रखने वाले होते हैं, मोह अभिमान तथा उन्मत्तता रहित होते हैं, धर्मोपदेशके समय तो बोलते हैं और शेष समयमें सदैव मौन रहते हैं, शास्त्ररूपी अपार पारावारके पारको प्राप्त होचुके हैं, उनमें कितने तो अवधिज्ञानके धारक होते हैं, कितने मनः–पर्ययज्ञानके धारक अवधिज्ञानके पहले पञ्च सूत्रकी सुन्दर पिच्छी प्रतिलेखनके (शोधनके) लिये धारण करते हैं, सङ्घके साथ २ विहार करते हैं, धर्म प्रभावना तथा उत्तम २ शिष्योंका रक्षण करते रहते हैं, और वृद्ध २ साधु समूहके रक्षण तथा पोषणमें सावधान रहते हैं। इसीलिये उन्हें महर्षिलोग स्थविर कल्पी कहते हैं। इस भीषण कलिकालमें हीन संहननके होनेसे वे लोग स्थानीय नगर ग्रामादिके जिनालयमें रहते हैं। यद्यपि यह काल दुस्सह है शरीरका संहनन

सुखेऽसुखे । समानमतयः शश्वन्मोहमानमदोज्झिताः ॥ ११४ ॥ धर्मोपदेशतोऽन्यत्र सदाऽभाषणधारिणः । श्रुतसागरपारीणाः केचनावधिबोधगाः ॥ ११५ ॥ मनःपर्ययिणः केचिद्धृहन्त्यवधितः पुरा चारु पञ्चगुणं पिच्छं प्रतिलेखनहेतवे ॥ ॥ ११६ ॥ विहरन्ति गणैः सार्कं नित्यं धर्मप्रभावनाम् । कुर्वन्ति च सुशिष्याणां ग्रहणं पोषणं तथा ॥ ११७ ॥ स्थविरादिव्रतिव्रातत्राणपोषणचेतसः । ततः स्थविरकल्पस्थाः प्रोच्यन्ते सूरिसत्तमैः ॥ ११८ ॥ साम्प्रतं कलिकालेऽस्मिन्हीनसंहननत्वतः ।

हीन है मन अत्यन्त चञ्चल है और मिथ्या मत सारे संसारमें विस्तीर्ण होगया है तो भी वे लोग संयमके पालन करने में तत्पर रहते हैं ॥११-२०॥

१ इसके ग्रन्थमें भी कालियुगके बाबत यों लिखा है—"जो कर्म पूर्व कालमें हजार वर्षमें नाश किये जा सकते हैं वे कलियुगमें एक वर्षमें भी नहिं किये जा सकते" यह तो हुआ गाथाके अक्षरोंका अर्थ। परन्तु यह गाथा बिल्कुल अशुद्ध है। हमारे पास दो प्रतियें थी उन दोनोंमें ऐसा ही पाठ होनेसे परवश यही पाठ छपवाना पड़ा। वास्तवमें ऐसा अर्थ होना चाहिये "जो कर्म पूर्व कालमें एक वर्षमें नाश कर दिये जाते थे उतने ही कर्म इस कलियुगमें हजार वर्षमें भी नाश नहीं किये जा सकते।

इसीसे मोक्षाभिलाषी साधुलोग संयमियोंके योग्य पवित्र तथा सावद्य (आरंभ) रहित पुस्तकादि ग्रहण करते है। इस प्रकार सर्व परिग्रहादि रहित स्थविर कल्प कहा जाता है। और जो यह वस्त्रादिका धारण करना है वह स्थविर कल्प नहिं है किन्तु गृहस्थ कल्प है। मैं तो यह समझता हूं कि-इन श्वेताम्बरियोंने जो इस गृहस्थ कल्पकी कल्पना की है वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये नहीं

स्थानीयनगरग्रामजिनसद्मनिवासिनः ॥ ११९ ॥ कालोऽयं दुःषमो हीनं [illegible] मनः। मिथ्यामतमतिव्याप्तं तथापि संयमोद्यताः ॥ १२० ॥

(१) [illegible]

[illegible] ॥११९॥

[illegible] संयमिनां [illegible] कांक्षिणः ॥ १२१ ॥ ईदृशः स्थविरकल्पः [illegible]

किन्तु इन्द्रिय सम्बन्धि विषयानुभवन करनेके लिये की है ॥ १२-२४ ॥

तथा देखो! इनलोगोंकी मूर्खता अथवा विवेक शून्यता जो श्रीवर्द्धमान स्वामीके गर्भका अपहरण हुआ कहते हैं। जब श्रीवीरजिनेन्द्रको—वृषभदत्त ब्राह्मणकी दिवानन्द्या नाम स्त्रीके गर्भमें आये हुये तिरासी ८३ दिन बीत गये तब इन्द्रने भिक्षुकका कुल समझ कर श्रीवीरनाथका गर्भ वहांसे लेजाकर सिद्धार्थ राजाकी कान्ताके उदरमें स्थापित किया। परन्तु यह बात कैसे होसकती है? अस्तु हमारा कहना है कि— पहले तुम यह कहो—इन्द्रने पहले उस कुलको जाना था या नहिं? यदि कहोगे जाना था तो पहिलेही गर्भका हरण क्यों न किया? यदि कहोगे नहिं जाना था तो गर्भ शोधनादि क्रियायें कैसे की होगीं? यदि फिर भी कहोगे कि गर्भ शोधनादि क्रियायें ही नहीं की गई

स्नोन्यो यत्र केलाविचारणम् ॥ १२३ ॥ ननु गृहस्थकल्पोऽयं कल्पितः पाण्डुरांशुकैः। परमक्षजसौख्याय न चायं शिवशर्मणे ॥ १२४ ॥

॥ इति सवस्त्रनिर्वाणनिराकरणम्

कथयन्ति कथं मूढा वर्द्धमानजिनेशिनः। गर्भापहरणं निन्द्यं विवेकविकलाशयाः ॥१२५॥ दिवानन्द्याभिधा गर्भे वृषदत्तद्विजन्मनः। अवतीर्णे जिने वीरे त्र्यशीति दिवसा गताः ॥ १२६ ॥ ततो भिक्षुकुलं ज्ञात्वा शक्रस्तं गर्भमापयत। सिद्धार्थनृपतेः पत्न्यां कथमेतद्वचो भवेत् ॥ १२७ ॥ वज्रिणा तत्कुलं पूर्वं विदितं वा न किं वद। विदितं चेत्तुरा किं न भ्रूणापहरणं कृतम् ॥ १२८ ॥ न ज्ञातं चेत्कथं गर्भे शोधनादिक्रिया कृता। न कृता

तो तुम्हीं कहो फिर तीर्थंकरोंमें तथा और सामान्य मनुष्योंमें विशेषताही क्या रही ? दूसरे यह भी है कि जब द्विजके यहांसे गर्भ हरण किया गया तो उसकी नालका तो छेद नहीं पर होगया फिर छिन्ननाल गर्भ दूसरी जगहँ क्योंकर बढ़ सकता है ? जैसे जिस फलका बंधन एक जगहँ छिन्न होजाता है फिर वह दूसरी जगहँ नहीं बढ़ सकता । किन्तु उसी समय नष्ट होजाता है । कदाचित कहो कि—जैसे वल्ली दूसरी जगहँ भी रोपी हुई वृद्धिको प्राप्त होती है तो गर्भ क्योंकर नहिं बढ़ सकता ? परन्तु यह कहना भी ठीक नहिं है—क्योंकि लता तो माताके समान होती है और सुत फलके समान होता है । कदाचित फिर भी कहो कि—माताके सम्बन्धसे गर्भ दूसरी जगहँ रख दिया गया तो गर्भका क्या विगड़ा ? विगड़ा तो कुछ नहिं परन्तु यही दुःख होता है कि तुम्हारे सदोष वचन विचारे सत्पुरुषोंको संताप उत्पन्न करते हैं । इसी तरहसे श्वेताम्बरी लोग नाना प्रकारके मिथ्या

[illegible] ॥ १२९ ॥ यथा च [illegible] वर्द्धते । [illegible] फलं [illegible] ॥ १३० ॥ [illegible] वर्द्धतेऽसौ न हि तथा । [illegible] ॥ १३१ ॥ [illegible] ॥ १३२ ॥ एवं [illegible]

बचनोंसे शास्त्रोंकी कल्पना करते हैं और विचारे मूर्ख लोगोंको संशयमें डालते हैं। इसके कुछ दिनों बाद यही मत सांशयिक कहलाने लगा। इसीप्रकार अपने कपोलकल्पित मार्गमें ये दुराग्रही लोग रहते हैं॥२५-३४॥ इन्हींके भक्त जो लोकपाल तथा चित्रलेखा रानी थी। उनके सुवर्णकी तरह कान्तिकी धारक तथा अपने सुन्दर रूपसे देवाङ्गनाओंको भी जीतने वाली मनोहर लक्षणोंसे शोभित नृकुलदेवी नामकी बाला हुई। सो उसने उन गुरुओंके समीप अनेक शास्त्र पढ़े। और फिर क्रम २ से युवा लोगोंको अत्यन्त प्रिय मनोहर तरुण अवस्थाको प्राप्त हुई।

धनसे परिपूर्ण एक करहाटाक्ष नामका नगर है। आनिवार्य पराक्रमका धारक भूपाल नामका उसका राजा है। उसने उस सुन्दर शरीरकी धारक नृकुलदेवीके साथ अपना विवाह किया। नृकुलदेवी भी पूर्व पुण्य कर्मके उदयसे और सर्व रानियोंमें प्रधान पट्टरानी हुई

॥ १३३ ॥ ततः सांशयिकं जातं मतं धवलवाससाम्। एवं स्वकल्पिते मार्गे वर्तन्ते ते दुराशयाः ॥ १३४ ॥ तद्भक्तलोकपालाख्यमहीक्षिच्चित्रलेखयोः सुता नृकुलदेव्याख्या बभूव वरलक्षणा ॥ १३५ ॥ अध्येष्टाऽनेकशास्त्राणि सनीडे स्वगुरोस्तु सा। कलाकुलकनत्कान्ती रूपापास्तसुराङ्गना ॥ १३६ ॥ अवाप तारतारुण्यं तारुण्योत्सवतृप्रियम्। अथास्ति करहाटाक्षं द्रंगं द्रविणसंभृतम् ॥ १३७ ॥ तच्छास्ताऽशर्यवीर्योऽभूद् भूपो भूपालनामभाक्। कन्यां तां कमनीयाङ्गीं प्रमोदात्परिणीतवान् ॥ १३८॥

और यह भूपाल भूपति भी उसके साथ नानाप्रकारके भोगोंको भोगने लगा ॥ ३५-३९ ॥

किसी दिन रानीने सुअवसर पाकर स्वामीसे प्रार्थना की कि—प्राणप्रिय ! मेरे पिताजीके नगरमें मेरे गुरु हैं । उन्हें धर्म प्रभावनाके लिये आप भक्तिपूर्वक बुलाईये । राजाने रानीके वचन सुनकर उसी समय अपने बुद्धिसागर मन्त्रीको बुलाया और उन्हें सत्कार पूर्वक लानेके लिये उसे करहाटाक्ष पुर भेजा । मन्त्री भी उनके पास गया और अत्यन्त विनयपूर्वक नमस्कार कर तथा बार २ प्रार्थना कर उन्हें अपने पुरमें लिवा लाया । राजाने जब उनका आगमन सुनातो बहुत आनन्दित हुआ और बड़े भारी आनन्दपूर्वक उनकी वन्दना करनेके लिये चला । परन्तु दूरसे ही जब उन्हें देखे तो आश्चर्य युक्त हो विचारने लगा—

अहो ! निर्ग्रन्थता रहित यह दण्ड पात्रादि सहित

[illegible] गुरुणा पुण्यविपाकतः । [illegible] विभुः [illegible] मतिः ॥१३९॥ अन्यदा [illegible] विज्ञापितो नृपः । [illegible] गुरवः [illegible] पितुः पुरे ॥ १४०॥ आनाययत [illegible] । निशम्य तद्वचो भूपस्तदा [illegible] ॥ १४१ ॥ बुद्धिसागरनामानं [illegible] गुरुं भक्त्या [illegible] ॥ १४२ ॥ [illegible] मन्त्री [illegible] । [illegible] नृपः ॥१४३॥ [illegible] गुरून् । दूरादालोक्य [illegible] । अहो ! निर्ग्रन्थताच्युतं किमिदं [illegible] कष्टम् । न [illegible]

नवीन मत कौन है? इनके पास मेरा जाना योग्य नहीं है। ऐसा कहकर उसी समय वहांसे अपने महलकी ओर लौट गया और जाकर अपनी कान्तासे कहा–खोटे मार्गके चलानेवाले, जिन भगवानके शासन विरुद्ध मतके धारण करने वाले तथा परिग्रह रूप पिशाचके वशवर्त्ति ये ही तुम्हारे गुरु हैं? मैं उन्हें कभी नहीं मानूंगा! वह राजाका आशय समझ कर उसी समय गुरुके पास गई और विनय विनीत मस्तकसे नमस्कार कर प्रार्थना करने लगी ॥४०-४८॥

भगवन! मेरे आग्रहसे आप सब परिग्रह छोड़कर पहले ग्रहण की हुई देवताओंसे पूजनीय तथा पवित्र निर्ग्रन्थ अवस्था ग्रहण कीजिये। उन सब श्वेताम्बर साधुओंने रानीके वचन सुनकर उसी समय वस्त्रादि सब परिग्रह छोड़ दिया। और हाथमें कमण्डलु तथा पींछी लेकर जिन भगवानकी दिगम्बरी दीक्षा अङ्गीकार की। फिर राजा भी उनके सन्मुख

॥१४५॥ व्याघुट्य भूपतिस्तस्मादागत्य निजमन्दिरम्। भाषते स्म महादेवीं गुरवस्ते कुमार्गगाः ॥ १४६ ॥ जिनोदितबहिर्भूतदर्शनाश्रितवृत्तयः। परिग्रहग्रहग्रस्तान्नैतान्मन्यामहे वयम् ॥ १४७ ॥ सा तु मनोगतं राज्ञो ज्ञात्वाऽगाद्गुरुसन्निधिम् ॥ नत्वा विज्ञापयामास विनयानतमस्तका ॥ १४८ ॥ भगवन्मदाग्रहादन्या गृहीतामरपूजिताम् निर्ग्रन्थपदवीं पूतां हित्वा सर्वं शुदाऽखिलम् ॥ १४९ ॥ उररीकृत्य ते राज्ञ्या वचनं विदुषार्चितम्। तत्यजुः सकलं सङ्गं वसनादिकमञ्जसा ॥ १५० ॥ करे कमण्डलुं कृत्वा पिच्छिकां च जिनोदिताम्। जगृहुर्जिनमुद्रां ते धवलांशुकधारिणः

गया और अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अपने नगरमें उन्हें लिवा लाया ॥ ४९-५२ ॥

उस समय राजादिके द्वारा सत्कार किये हुवे तथा पूजे हुये वे साधुलोग दिगम्बरका वेष धारणकर श्वेताम्बर मतके अनुसार आचरण करने लगे ॥५३-५६॥ गुरूपदेशके विना नटके समान उपहासका कारण लिङ्ग धारण किया। और फिर कितने दिनों बाद इन्हीं कुमार्गियोंसे यापनीय सङ्घ निकला।

फिर इसी मिथ्यात्व मोहसे मलीन श्वेताम्बर मतमे शुभ कार्यसे पराङ्मुख कितनेही मत प्रचलित होगये। उनमें कितनेतो अहंकारके वशसे, कितने अपने आप आचरण धारण करनेसे, कितने अपने २ आश्रयके भेदसे तथा कितने खोटे कर्मके उदयसे निकले। इसी तरह अनेक मतोंका समाविर्भाव होगया।

औरभी सुनो—

॥ १५१ ॥ [illegible] मूर्तिमंभवात् । [illegible] ॥ १५२ ॥ [illegible] ॥ १५३ ॥ [illegible] ॥ १५४ ॥ [illegible] ॥ १५५ ॥ [illegible] ॥ १५६ ॥ [illegible] ॥ १५७ [illegible]

महाराज विक्रमकी मृत्युके १५२७ वर्ष बाद धर्मकर्मका सर्वथा नाश करने वाला एक लुंकामत (ढूँढियामत) प्रगट हुआ। उसीकी विशेष व्यवस्थायों है—

अपनी अलौकिक विद्वत्तासे देवताओंको भी पराजित करने वाले गुर्जर (गुजरात) देशमें अणहल नाम नगर है। उसमें प्राग्वाट (कुलम्बी) कुलमें लुंका नामका धारक एक श्वेताम्बरी हुआ है। उस पापी दुष्टात्माने कुपित होकर तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे खोटे परिणामोंके द्वारा लुंकामत चलाया। और जिन सूत्रसे प्रतिकूल होकर—देवताओंसे भी पूज्यनीय जिन प्रतिमा, उसकी पूजा तथा पवित्र दानादि सब कर्म उठा दिये ॥७५—६१॥

उस मतमें भी कलिकालका बल पाकर अनेक भेद होगये सो ठीक ही है कि—दुष्ट लोग क्या२ नहीं करते हैं?। अहो! देखो! मोहरूप अंधकारसे ये लोग स्वयं भी आच्छादित हुये और इन्हीं पापी लोगोंने

लुङ्कामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः। देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्ताजितनिर्जरे ॥ १५८ अणहिल्लपत्तने रम्ये प्राग्वाटकुलजोऽभवत्। लुङ्काऽभिधो महामानी श्वेतांशुकमताश्रयी ॥ १५९ ॥ दुष्टात्मा दुष्टभावेन, कुपितः पापमण्डितः। तीव्रमिथ्यात्वपाकेन लुङ्कामतमकल्पयत् ॥ १६० ॥ सुरेन्द्रार्चां जिनेन्द्रार्चां तत्पूजां दानमुत्तमम्। समुत्थाप्य स पापात्मा प्रतीपो जिनसूत्रतः ॥ १६१ ॥ तन्मतेऽपि च भूयांसो मतभेदाः समाश्रिताः। कलिकालबलं प्राप्य दुष्टाः किं किं न कुर्वते ॥१६२॥

जिन भगवानका निर्मल शासन भी कलङ्कित किया। परंतु सुखाभिलाषी बुद्धिमानोंको इस लुंकामतमें प्रमाद नहीं करना चाहिये अर्थात् इसे ग्रहण नहीं करना चाहिये। किन्तु उन्हें अपनाही मत ग्रहण करना उचित है। क्योंकि कर्दमसे (कीचडसे) लिप्त महामणिको कौन ग्रहण नहीं करता है ? किन्तु सभी करते हैं। अरे ! निःशक्त (व्रत तथा सम्यक्त्व रहित) पुरुषोंके दोषसे क्या धर्म भी कभी मलीन हो सकता है ? किन्तु नहीं हो सकता। सो ठीक है—मेंढकके मरनेसे समुद्र कहीं दुर्गंधित नहीं होता। इसी तरह सब मतोंमें सार देखकर सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको अपनी बुद्धि सर्वज्ञ भगवानके दिखाये हुये मार्गमें लगानी चाहिये ॥६२—६६॥

अब उपसंहार करते हुये आचार्य कहते हैं कि जो वस्त्र रहित होकर भी सुन्दर है, अलङ्कारादि विहीन होकर भी देदीप्यमान है तथा जो क्षुधा तृषादि अठारह दोषोंसे रहित है वही तो वास्तवमें देव कहलाने योग्य

बहुधा दुर्मतैरेवं मोहान्धतमसावृतैः। जिनोक्तमूलमार्गोऽयं निंदितः न परीक्षकैः ॥ १६३ ॥ तथापि न प्रमाद्यन्ति लुंकामत्र सुमेधिनः। महामणिं कर्दमेऽपि किं न गृह्णन्ति सज्जनाः ॥ १६४ ॥ मलिनः किं भवेद्धर्मो निःशक्तनरदूषणैः। न हि भेके मृतेऽम्भोधिः प्राप्नोति पूतिगन्धताम् ॥ १६५ ॥ विचार्य सर्वमतान्सारमेवं सद्दृशः। जिनन्तु मतिं सर्वज्ञदर्शितमार्गेऽर्पयन्ति ॥ १६६ ॥ निरम्बरोऽपि निराभरणभासुरः। क्षुधादिदोषनिर्मुक्तो ... ॥१६७॥ अष्टा-

है और शेष क्षुधादि सहित कभी देव नहीं कहे जा-सकते ॥ ६७ ॥ उसी जिन भगवानके मुख-चन्द्रसे विनिर्गत स्याद्वादरूप अमृतसे पूरित तथा परस्पर विरुद्धता रहित जो शास्त्र है वही तो शास्त्र है और दूसरे लोगोंके द्वारा कहा हुआ शास्त्र नहीं होसकता ॥६८॥ और जो नानाप्रकारके ग्रन्थ (शास्त्र) सहित होकर भी निर्ग्रंथ (परिग्रह रहित) हैं तथा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयसे विराजित हैं वे ही यथार्थमें गुरु हैं और जो धनादिसे पराभिभूत हैं वे गुरु नहीं होसकते ॥६९॥ इसलिये बुद्धिमानोंको दूसरी ओरसे बुद्धि हटाकर सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धानमें उसे लगानी उचित है। और सप्त तत्वोंका निश्चय करके उत्तम सम्यक्त्व स्वीकार करना चाहिये ॥७०॥

अन्तमें ग्रन्थकार कहते हैं कि—श्रेणिक महाराजके प्रश्नके उत्तरमें जैसा श्री वीरजिनेन्द्रने भद्रबाहु चरित्रका वर्णन किया था उसी तरह जिन शास्त्रके द्वारा समझकर मैंने भी श्रीभद्रबाहु श्रुतकेवलीका चरित्र लिखा है ॥७१॥

जैनेन्दुसम्भूतं स्याद्वादामृतगर्भितम्। विरुद्धतावितं शास्त्रं शस्यते नान्यजल्पितम् ॥ १६८ ॥ निर्ग्रन्थो ग्रन्थयुक्तोऽपि रत्नत्रितयराजितः। उच्चिरन्ति गुरुं रम्यं तमन्यं नैव ग्रन्थिलम् ॥ १६९ ॥ श्रद्धातव्यं त्रयं चेति हित्वान्यमतदुर्मतिम्। तथा निश्चित्य तत्वानि ग्राह्यं सम्यक्त्वमुत्तमम् ॥१७०॥ श्रेणिकप्रश्नतोऽवोचद्यथा वीरजिनेश्वरः। तथोद्दिष्टं मयाऽत्रापि ज्ञात्वा श्रीजिनसूत्रतः ॥ १७१ ॥

जिसका अवतार स्वर्ग समान मनोहर कोटपुरमें हुआ है, जो सोमशर्म तथा श्रीमती सोमश्रीका अनेक गुणोंका धारक पुत्र रत्न है, जिसने गोवर्द्धनाचार्य सरीखे महात्माका आश्रय लेकर निर्मलज्ञान रूपी रत्नाकर तिर लिया है वे श्रीभद्रबाहु महर्षि मेरे हृदयमें प्रकाश करें।

जो स्नेह (राग) का नाश कर देनेसे यद्यपि आभरणादिसे विरहित है तौभी बहुत ही सुन्दर है, जो वेदनीय कर्मके अभाव हो जानेसे यद्यपि निराहार है तौभी निरन्तर सन्तुष्ट है, जो काम रूप प्रचण्ड हाथीको नाश करनेके लिये केशरी गिना जाता है और जो इन्द्रिय रूप काननके जलानेके लिये वह्नि कहा जाता है उसी जिनराजकी मैं सप्रेम स्तुति करता हूं वह इसी-लिये कि–वे मुझे मनोभिलषित सुख वितीर्ण करें।

यः श्रीकोटपुरे विनामरपुरे सोमादिशर्मद्विज—
दामोदरगुणाकरोऽजनवरः सोमश्रियो [illegible] ।
श्रीमद्[illegible] [illegible]
स्वान्तं मम भद्रबाहुमुनिः [illegible] ॥१०॥

[illegible] —
[illegible] ।

[illegible]
[illegible] ॥११॥

सम्यग्दर्शन जिसका मूल कहा जाता है, जो श्रुत सलिलसे अभिसिंचित किया गया है, उत्तम चारित्रका ग्रहण जिसकी शाखायें मानी जाती हैं, जो सुन्दर २ गुणोंसे विराजित है और जिसमें-इच्छानुसार फल प्रदान करनेकी अचिन्त्य प्रभुत्वता है तो फिर आप लोग उसी धर्म रूप मन्दारतरुका क्यों न आश्रय करें ?

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय

जो प्रतिवादी रूप गजराजके मदका प्रमर्दन करनेके लिये केशरीकी उपमासे विराजित हैं, जिन्हें शील-पीयूषका जलधि कहते हैं और जिसने उज्वल कीर्त्ति-सुन्दरीका आलिङ्गन किया है उन्हीं अनन्त कीर्त्ति आचार्यके विनेय और अपने शिक्षा गुरु श्रीललितकीर्त्ति मुनिराजका ध्यान करके मैने इस निर्दोष चरित्रका सङ्कलन किया है ।

सद्दृष्टिमूलं श्रुततोयसिक्तं सुवृत्तशाखं प्रगुणोद्गुणाढ्यम् ।
वृक्षं सदाऽभीष्टफलप्रदाने भो ! धर्मदेवद्रुममाश्रयन्तु ॥१७४॥

वादीभेन्द्रमदप्रमर्दनहरेः शीलामृताम्भोनिधेः
शिष्यं श्रीमदनन्तकीर्त्तिगणिनः सत्कीर्त्तिकान्ताजुषः ।
स्मृत्वा श्रीललितादिकीर्त्तिमुनिपं शिक्षागुरुं सद्गुणं
चक्रे चारुचरित्रमेतदनघं रत्नादिनन्दी मुनिः ॥१७५॥

यदि परमार्थसे देखाजाय तो मुझ सरीखे मन्द बुद्धियोंके लिये भद्रबाहु सरीखे महात्माओंका वृत्तान्त लिखना बहुतही कठिन था तोभी श्रीहीरकब्रह्म-चारीके अनुरोधसे थोडेमें लिखा ही गया । यह मेरा सौभाग्य है ।

मैंने जो यह चरित्र लिखा है वह केवल इसी लिये कि—श्वेताम्बर लोग वास्तविक स्वरूप समझ जांय। आप लोग यह कभी खयाल न करें कि मैंने अपने पाण्डित्यके अभिमानसे इसे बनाया हो ।

इति श्रीरत्नकीर्त्ति आचार्य निर्मित श्रीभद्रबाहु-चरित्रके
अभिनव हिन्दीभाषानुवादमें श्वेताम्बरमतकी उत्पत्ति
तथा आपलीसङ्घकी उत्पत्तिके वर्णन वाला
चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

भद्रबाहोश्चरित्रं वक्तुं शक्यतेऽल्पधिया कथम् ।
तथाप्याविरचितं ह्येतत् हीरकादिवचोगतः ॥१७६॥
श्वेतांशुकमतोद्भूतकुमतान् ज्ञापयितुं जनान् ।
व्यरीरचमिमं ग्रन्थं न स्वपाण्डित्यगर्वतः ॥१७७॥

इति श्रीरत्ननन्द्याचार्यविरचिते भद्रबाहुचरिते श्वेताम्बरमतोत्पत्त्या-
पलीसंघोत्पत्तिवर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः समाप्तः ॥४॥
समाप्तोऽयं ग्रन्थः

अनुवादकका परिचय.

श्रीवैश्यवंश-अवतंस ! जिनेन्द्रभक्त !
शान्तस्वभाव ! सब दोष-कलङ्क-मुक्त !
हीरादिचन्द शुभ नाम विराजमान !
हे पूज्यपाद ! तुव पाद करौं प्रणाम ॥१॥

हा तात ! पापविधिका नहिं है ठिकाना
जो आपके अब सुदर्शनका न होना।
हा ! मन्दभाग्य मुझको दुखमें डुबोके
मा[1] भी हुई सुपथगामिनि आपहीके ॥२॥

आधार तात ! अब है नहिं कोई मेरा
हा ! और संसृति-निवास बचा घनेरा।
कैसे दुखी उदय जीवन पूर्ण होगा ?
हा ! कर्मके उदयको किसने न भोगा ? ॥३॥

जिनेन्द्रसे प्रार्थना

हे देव ! देख जगमें अवलम्ब हीन
आलम्ब देकर करौ अघ-कर्म हीन।
संसार-नीरनिधिमें अब छोड़ दोगे
तो दासका कठिन शाप विभो ! लहोगे ॥४॥

१—मा, जननी और लक्ष्मी इन दोनोंका वाचक है। हमारी माताका लक्ष्मी था।

निवेदन।

पाठक महाशय !

भद्रबाहु-चरित्र आपकी सेवामें उपस्थित करते हैं यह ग्रन्थ कितने महत्वका है वह इसके पढ़नेसे स्वयं अनुभव हो जायगा। इस ग्रन्थको श्रीरत्ननन्दी सूरिने बनाकर जैन जातिका बड़ा भारी उपकार किया है। ऐसे २ अमूल्य रत्नोंकी आजभी जैनियोंमें कमी नहीं है। कमी है केवल आपके पुरुषार्थ की। सो हम प्रार्थना करते हैं कि यदि आप जैन समाजका हृदयसे भला चाहते हैं तो उन रत्नोंको अन्धेरेमेंसे निकाल कर उजेलेमें लाइये। और तभी हमारा जैनधर्म पाला सार्थक होगा जब हम अपने पूर्वजोंकी कीर्त्तिका विस्तार दिगदिगन्तमें करनेकी चेष्टा करेंगे।

इस रत्नके अलावा—

भावसंग्रह् (वामदेव)

सप्तव्यसन—चरित्र (सोमसेन)

वर्द्धमान पुराण (सकल-कीर्त्ति)

धन्यकुमार—चरित्र (सकलकीर्त्ति)

ये ग्रन्थ तयार होरहे हैं। इन्हें हम जल्दी ही आपकी सेवामें उपस्थित करेंगे।

भवदीय—

बद्रीप्रसाद जैन

बनारस सिटी।